शिक्षामंत्रालय भारत सरकार की आर्थिक सहायता से मुद्रित एवं प्रकाशित

श्री महाभारतवचनामृतम्

(महाभारत का विषयक्रमानुसार वर्गीकरण)

(प्रथम भाग)

[सटीक]

मानवधर्म अथवा कर्मयोगशास्त्र

•

प्राक्कथन लेखक

डॉ० पुरुषोत्तमलाल भार्गव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

•

लेखक

सूर्यनारायण

एम० ए०, साहित्यरत्न

•

प्राप्ति-स्थान :

युगनिर्माण साहित्यागार

२०, नथमलजी का कटला, आगरा रोड़,

जयपुर – ३

प्रथमवार–१०००] १९६९ ई० [मूल्य २)९०

प्रकाशक :
सूर्यनारायण, एम.ए. साहित्यरत्न,
२०. नथमलजी का कटला,
आगरा रोड, जयपुर–३ ।

'श्रीमहाभारतवचनामृतम्' के भागों का मूल्य

•

प्रथम भाग–मानवधर्म अथवा कर्मयोगशास्त्र	२)९०
द्वितीय भाग–कौटुम्बिक प्रेम एवं कर्त्तव्य	)७५
तृतीय भाग–दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्राप्ति के उपाय	)७५
चतुर्थ भाग–ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग	)६०
पञ्चम भाग–भारत की महान् विभूतियाँ–(१)	१)२०

•

श्रीमहाभारत सुधासागर–भगवान् के अवतार	१)००

मुद्रक :
राधेश्याम शर्मा,
श्री शङ्कर आर्ट प्रिण्टर्स,
जयपुर–२

विषयानुक्रमणिका

'श्रीमहाभारतवचनामृतम्' पर प्राप्त सम्मतियाँ

"………जो भी प्रकाशक इस सुन्दर ग्रन्थ को प्रकाशित करेगा, वह घाटे में नहीं रहेगा।"

रामधारीसिंह 'दिनकर'

•

"……यह ग्रन्थ बड़े परिश्रम से तैयार किया गया है। ……इस ग्रन्थ से पाठकों को प्राचीन भारतीय-संस्कृति का ज्ञान होगा और वर्तमान वैयक्तिक-जीवन तथा सामाजिक और राजनैतिक जीवन को सुन्दर एवं सुखद बनाने की प्रेरणा मिलेगी। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का अच्छा आदर होगा।"

डॉ० मथुराल शर्मा

माघ कृष्णा १४,२०२४। भूतपूर्व-(१) उपकुलपति, राजस्थान विश्व विद्या०
(२) निदेशक, शिक्षा विभाग राजस्थान।

•

वर्तमान भौतिकता प्रधान युग में इस प्रकार के पौराणिक रूपान्तरों का अत्यधिक महत्व है। ………मेरा नम्र सुझाव है कि इस ग्रन्थ का उपयुक्त स्तरीय परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में उपयोग होना चाहिए, जिससे नयी पीढ़ी का मानव अनिवार्यरूप से इस पौराणिक कथा को पढ़कर लाभान्वित होते हुए राष्ट्रीय चरित्रोत्थान में योगदान दे सकें।"

डॉ० स्वर्णलता

प्रधानाचार्या, महारानी सुदर्शना महाविद्यालय,
बीकानेर।

•

प्राक्कथन

महाभारत प्राचीन भारत का विश्वकोष हैं। इसके लिए ठीक ही कहा गया है कि **'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'** अर्थात्, जो महाभारत में है वह अन्यत्र मिल सकता है, परन्तु जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं मिल सकता, महाभारत वास्तव में रत्नाकर है, परन्तु उसमें गोता खाकर अभीप्सित रत्न निकाल लाना कष्ट-साध्य है। महाभारत में क्या नहीं है ? उसमें जहाँ वीरों को फड़काने वाले शौर्य-कृत्यों के अद्भुत् वर्णन हैं, वहाँ धर्म, दर्शन, सदाचार, राजनीति आदि विषयों की विशद व्याख्या करने वाले अंश भी है। यदि इन रत्नों को श्रेणी-बद्ध करके सुप्राप्य बनाया जा सके, तो जिन लोगों के पास समय अथवा कष्ट उठाने की क्षमता का अभाव है, वे भी उससे लाभान्वित हो सकते हैं।

श्री सूर्यनारायणजी ने ठीक यही काम किया है, प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के **महाभारत सुधासागर'** नामक विशाल ग्रन्थ का एक खण्ड है जो **'श्रीमहाभारतवचनामृतम्'** के नाम से पाँच भागों में प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि महाभारत की अनेक विषयों की विकीर्ण सामग्री को विषय-क्रम से शीर्षक एवं उपशीर्षकों में विभक्त करके हस्तामलकवत् सुलभ बना दिया है। प्रत्येक श्लोक के नीचे उसकी हिन्दी टीका प्रस्तुत करदी गयी है। इसका प्रथम भाग **'मानवधर्म अथवा कर्मयोग शास्त्र'** है, जिसमें अध्यात्म के साथ-साथ कर्म-अकर्म, धर्म, सदाचार, प्रारब्ध-पुरुषार्थ आदि कर्त्तव्य-शास्त्र के विषयों को महत्त्व दिया गया है। दूसरा भाग **'कौटुम्बिक प्रेम एवं कर्त्तव्य'** है, जिसमें गुरु-मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, संगठन, स्त्रीधर्म, मित्रधर्म आदि के सिद्धान्त और

आदर्श रक्खे गये हैं। तीसरा भाग '**दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्राप्ति के उपाय**' है, जिसमें बताया गया है कि हमारे पूर्वज किन साधनों के द्वारा दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्राप्त करते थे। टिप्पणी में आधुनिक चिकित्सा-विशेषज्ञों के मत भी विस्तार से दे दिये गये हैं, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। चतुर्थ भाग '**ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं ध्यानयोग**' है, जिसमें ज्ञान-भक्ति-उपासना आदि विषयों की सामग्री है। अगले भागों में कथामृत को स्थान दिया गया है। कथामृत की भी प्रत्येक पंक्ति मानव-प्रेम एवं कर्त्तव्य-शील जीवन की ओर अग्रसर कराने वाली है।

इस प्रकार लेखक ने अपनी इस कृति से एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री सूर्यनारायणजी के इस प्रयास का संस्कृत और हिन्दी जगत् में आदर होगा।

डॉ० पुरुषोत्तमलाल भार्गव
अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

२८-११-६८

साहित्य के धुरन्धर महारथियों द्वारा 'श्रीमहाभारत वचनामृतम्' का मूल्यांकन

(१)

"........विद्वान् लेखक ने अपनी सतत साधना और अध्यवसाय के द्वारा महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ को लोकोपयोगी बनाने की दशा में जो महत्वपूर्ण प्रयत्न किया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

"भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य तत्वों को इस प्रकार की सरल और सरस पद्धति में प्रस्तुत करने की इस समय बहुत अधिक आवश्यकता है। मैं लेखक के इस परिश्रम की हृदय से प्रशंसा करता हूँ।"

डॉ० मण्डन मिश्र

१७–२–६८ **निदेशक–श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय-संस्कृत-विद्यापीठम्**

महामन्त्री, अखिल भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली।

(२)

"........इनके परिश्रम की सराहना करता हूँ। इस प्रकार के संग्रह से साधारण जनता में महाभारत जैसे ग्रन्थ का प्रचार सम्भव है। इससे भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था बढ़ेगी। ......"

के० माधवकृष्ण शर्मा

निदेशक, संस्कृत शिक्षा, राजस्थान

(३)

"........इस पुस्तक का मुख्य गुण यह है कि उपदेशप्रद अंशों को यथा सम्भव विस्तार से उद्धृत किए गए हैं और विषयवार लेने से पाठकों के लिए उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।....इसमें सार ग्रहण कराने की सुविधा प्रदान कराने वाले इस सुन्दर संकलन का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ....।"

लक्ष्मीलाल जोशी

भूतपूर्व अध्यक्ष, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राज०, अजमेर।

(४)

"………जनसाधारण एवं विशेषतः विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।"

राव धीरसिंह
उपमन्त्री (शिक्षा), राजस्थान।

(५)

"………जिन रत्नों का संकलन किया है, वे वास्तव में मानव-जीवन के उत्थान के लिए प्रेरक एवं उपयोगी है………।"

चैनसुखदास (जयपुर)
(राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत)

(६)

"………आज के युग में जब कि मानव समाज के मान और मूल्यों में क्षिप्रगति से परिवर्तन हो रहा है और पुरानी परम्पराओं के प्रति अनास्था बढ़ रही है, यह ग्रन्थ निश्चय ही स्कूलों, कालेजों और संस्थाओं के नवयुवकों व अध्येताओं के लिए मूल्यवान व उपयोगी सिद्ध होगा……… ।"

मेघराघ मुकुल
उपशासन-सचिव, शिक्षा-विभाग एवं
निदेशक, भाषा विभाग, राजस्थान।

(७)

"………आज नैतिक शैथिल्य के युग में ऐसी कृति ही सांस्कृतिक आस्थाएँ प्रस्तुत कर नैतिक भूमिका को प्रशस्त कर सकती है।………"

डॉ० सरनामसिंह 'अरुण' जयपुर

(८)

"………आपका यह कार्य सर्वथा सराहनीय और उपयोगी है।"

हनुमानप्रसाद पोद्दार
(सम्पादक, कल्याण)

लेखक के दो शब्द

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ।।
(शान्ति पर्व ४७।८४)

सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमेश्वर की अनुपम अनुकम्पा से **'श्रीमहाभारतवचनामृतम्'** प्रकाशित होकर पाठकों के कर-कमलों में पहुँच रहा है, इसके लिए उसे कोटिशः धन्यवाद है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना। इसमें जो कुछ अच्छाइयाँ हैं, वे सब-की-सब महाभारत-प्रणेता भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास, उसके टीकाकार पं० रामनारायणदत्तजी शास्त्री पाण्डेय 'राम' तथा उसके प्रकाशक गीताप्रेस गोरखपुर की हैं। इसमें श्लोकों के रूप, क्रमांक एवं अधिकांश में टीका भी गीताप्रेस से प्रकाशित महाभारत से ही ली गई है। गीताप्रेस ने इसकी अनुमति प्रदान करने में जो उदारता दिखलाई है, उसके लिए मैं उनका एवं अन्याय अनेक महानुभावों का, जिनकी रचनाओं से इसके प्रणयन में जाने-अनजाने सहायता ली गई है, हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इसके प्राक्कथन लेखन में डॉ० **पुरुषोत्तमलालजी भार्गव**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय ने, जो परिश्रम किया है उसके लिए मैं डाक्टर साहब का चिर-ऋणी हूँ। एवं अनेकानेक उन महानु-भावों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ का मूल्यांकन करने और अपनी अमूल्य सम्मतियों के देने में अपना बहुमूल्य समय देकर मुझे

प्रोत्साहित किया है और स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका नाम निर्देश करने में भी मैं असमर्थ हूं।

सब से अधिक धन्यवाद का पात्र शिक्षामंत्रालय भारत सरकार है, जिसकी कि आर्थिक सहायता से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।
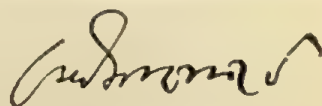
इस संकलन में जो भी दोष एवं त्रुटियाँ हैं, उन सबके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूं। आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि उदार पाठक इसके लिए क्षमा-प्रदान कराने तथा गलतियों का निर्देशन में अपनी असीम उदारता का परिचय देंगे, जिससे आगामी संस्करण में उनका निवारण किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे 'श्रीमहाभारत सुधासागर' का एक खण्ड है, यदि पाठकों ने इसे अपनाया तो उक्त ग्रन्थ का अवशेष कथा भाग भी, जो लगभग दो हजार पृष्ठों का होगा, शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा सकेगा।

अन्त में भगवान् की वस्तु भगवान् श्रीहरि के चरणारविन्दों में समर्पित कर मैं विश्राम लेता हूं।

जयपुर (राजस्थान)
२९-११-६८

विद्वन्मण्डली का चरणसेवक

(सूर्यनारायण)

महाभारत का महत्त्व

१–पुरा किल सुरैः सर्वैं समेत्य तुलया धृतम् ।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्योह्यधिकं तदा ॥

(आदि पर्व १।२७२)

प्राचीनकाल में सब देवताओं ने इकट्ठे होकर तराजू के एक पलड़े पर चारों वेदों को और दूसरे पर महाभारत को रक्खा। परन्तु जब यह रहस्य-सहित चारों वेदों से भी अधिक भारी निकला, तभी से यह महाभारत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

२–धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

(आदि पर्व ६२।५३)

भरत-श्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो बात इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

३–अष्टादश पुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ।
वेदाः साङ्गास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम् ॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः ।
अष्टादश पुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥

(स्वर्गा० ५।४६–४७)

अठारह पुराणों के निर्माता और वेद-विद्या के महासागर महात्मा व्यास-मुनि का यह सिंह-नाद सुनो। वे कहते हैं— **'अठारह पुराण, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और छहों अङ्गों सहित चारों वेद एक ओर तथा केवल महाभारत दूसरी ओर, यह अकेला ही उन सब के बराबर है।'**

४–धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना ।।
भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ ।
सम्प्रत्या चक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे ।।

(महाभारत महात्म्य)

अपरिमित बुद्धि भगवान् व्यासदेव के द्वारा कथित यह महाभारत पवित्र धर्मशास्त्र है, श्रेष्ठ अर्थशास्त्र है और सर्वोत्तम मोक्ष-शास्त्र भी है । हे भरतश्रेष्ठ ! महाभारत समस्त शास्त्रों का शिरोमणि है, इसी से सम्प्रति विद्वान् लोग इसका पठन-श्रवण करते हैं और आगे भी करेंगे ।

५–मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात् ।
प्रकाशं जनितो लोके महाभारत-चन्द्रमाः ।।

(वायुपुराण १।४४–४५)

'भगवान् व्यास ने वेदों के समुद्र को अपनी बुद्धि रूपी मथानी से मथ कर ऐसे महाभारतरूपी चन्द्रमा को जन्म दिया जिसके प्रकाश से यह सारा लोक प्रकाशित है ।'

६–इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः ।।

(आदि पर्व ९५।९०)

'यह महाभारत वेदों के समान पवित्र, उत्तम तथा धन, यश और आयु की प्राप्ति कराने वाला है । मन को वश में रखने वाले साधु-पुरुषों को सदैव इसका श्रवण करना चाहिये ।'

——

॥ ॐ ॥

श्री महाभारतवचनामृतम्

(प्रथम भाग)

मानवधर्म अथवा कर्मयोगशास्त्र

(१)–वन्दना

१–भगवान् नारायण, नर, देवी सरस्वती एवं महर्षि वेदव्यास की वन्दना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

"बदरीकाश्रम निवासी प्रसिद्ध ऋषि श्री नारायण तथा श्री नर (अन्तर्यामी नारायण-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और उनके नित्य-सखा नर स्वरूप नर श्रेष्ठ अर्जुन), उनकी लीला प्रकट करने वाली भगवती सरस्वती और उसके वक्ता महर्षि वेदव्यास को नमस्कार कर (आसुरी सम्पत्तियों का नाश करके अन्तः-करण पर दैवी सम्पत्तियों को विजय प्राप्त कराने वाले जय (महाभारत एव अन्य इतिहास पुराणादि) का पाठ करना चाहिये।"

२–साकार निराकार पर-ब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु की वन्दना

(१)

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥
असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥
मङ्गल्यं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचर गुरुं हरिम् ॥
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकमर्णः ॥

(आदिपर्व १।२२से २५)

ग्रंथारम्भ में महर्षि उग्रसवा जी वंदना करते हुए कहते हैं—"जो सबका आदि कारण अन्तर्यामी और नियन्ता है, यज्ञों में जिसका आवाहन और जिसके उद्देश्य से हवन किया जाता है, जिसकी अनेक पुरुषों द्वारा अनेक नामों से स्तुति की गई है जो ऋत (सत्यस्वरूप), एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव एवं एकमात्र अविनाशी और सर्वव्यापी परमात्मा), वयक्ताव्यक्त (साकार–निराकार) स्वरूप एवं सनातन है, असत्-सत् एवं उभयरूप से जो स्वयं विराजमान है; फिर भी जिसका वास्तविक स्वरूप सत्-असत् दोनों से विलक्षण है, यह विश्व जिससे अभिन्न है, जो सम्पूर्ण परावर (स्थूल-सूक्ष्म) जगत् का स्रष्टा, पुराणपुरुष, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर एवं वृद्धि-क्षय आदि विकारों से रहित है, जिसे पाप कभी छू नहीं सकता, जो सहज शुद्ध है, वह ब्रह्म ही मङ्गलकारी एवं मङ्गलमय विष्णु है । उन्हीं चराचर हृषिकेश

(मन इन्द्रियों के प्रेरक) श्री हरि को नमस्कार करके सर्वलोक पूजित अद्भुत कर्मा महात्मा महर्षि व्यासदेव के इस अन्तःकरण शोधक मत का मैं वर्णन करूंगा।"

(२)

त्रयोलोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा॥
अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे।
बलि बद्ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः।
त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम्।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोक नमस्कृतः॥
गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम।

(उद्योगपर्व १०।६ से ९)

देवगण भगवान् विष्णु की वंदना करते हुए कहते हैं– "प्रभो! आपने पूर्व काल में अपने तीन डगों द्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकी को नाप लिया था। विष्णो! आप ही ने (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्यों के हाथ से अमृत छीना एवं युद्ध में उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलि को बांधकर इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया। आप ही सम्पूर्ण देवताओं के स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव! आप ही अखिल विश्व-वन्दित देवता हैं। सुरश्रेष्ठ! आप इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवताओं के आश्रय हैं।"

३–भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना

(१)

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन॥

कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदनीम् ।।

(सभापर्व ६८।४१ से ४३)

दुःशासन द्वारा वस्त्र हरण के समय द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्ण का मन ही मन चिन्तन करती हुई प्रार्थना करती है– "हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! हे गोपाङ्गनाओं के प्राणवल्लभ केशव ! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते ? हे नाथ ! हे व्रजनाथ ! हे संकट-नाशन जनार्दन मैं कौरव रूपी समुद्र में डूबी जा रही हूं, मेरा उद्धार कीजिये। सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! गोविन्द ! कौरवों के बीच में कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबला की रक्षा कीजिये।"

(२)

विश्वावसुर्विश्वमूर्तिविश्वेशो विष्वक्सेनो विश्वकर्मा वशी च।
विश्वेश्वरो वासुदेवोऽसि तस्माद् योगात्मानं दैवतं त्वामुपैमि ॥

(भीष्म पर्व ६५–४७)

ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं– "प्रभो !आप सम्पूर्ण विश्व को आच्छादित करने वाले, विश्व-स्वरूप और विश्व के स्वामी हैं। विश्व में सब ओर आपकी सेना है। यह विश्व आपका कार्य है। आप सबको अपने वश में रखने वाले हैं। इसीलिए आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं। आप योग स्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरण आया हूं।

आत्मयोने महाभाग कल्पसंक्षेप तत्पर ।
उद्भावनमनोभाव जय ब्रह्म जनप्रियः ॥

(भीष्म पर्व ६५ । ५६)

"आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है, आप इस कल्प का संहार करने वाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं। ध्यान करने से अन्तःकरण में आपका आविर्भाव होता है, आप जीव मात्र के प्रियतम परब्रह्म हैं, आपकी जय हो।

पद्मनाभ विशालाक्ष कृष्ण दुःख प्रणाशन ॥
त्वं गतिः सर्वभूतानां त्वं नेता त्वं जगद्गुरुः।
त्वत्प्रसादेन देवेश सुखिनो विबुधाः सदा ॥

(भीष्म पर्व ६५। ६५-६६)

"पद्मनाभ! विशाललोचन! दुःखहारी श्रीकृष्ण! आप ही सम्पूर्ण प्राणियों के आश्रय और नेता हैं, आप ही संसार के गुरु हैं। देवेश्वर! आपकी कृपादृष्टि होने से ही सब देवता सदा सुखी रहते हैं।"

(३)

(भीष्म स्तवराज से)

अव्यक्तबुद्ध्यहंकारमनोबुद्धिन्द्रियाणि च।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः ॥

(शान्तिपर्व-दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ४७)

शर-शैय्या पर लेटे-लेटे भीष्म पितामह भगवान् श्री कृष्ण की वन्दना करते हैं—"अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महतत्त्व), अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियां, तन्मात्राएं और उनका कार्य—ये सब जिनके ही स्वरूप हैं, उन तत्त्वमय परमात्मा को नमस्कार है।

भूतं भव्यं भविष्यश्च भूतादिप्रभवाप्ययः।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः ॥

(शान्तिपर्व-दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ४७)

"जो भूत, वर्तमान और भविष्य-काल रूप हैं, जो भूत आदि की उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों के अग्रज हैं, उन भूतात्मा परमेश्वर को नमस्कार है।

नमोऽस्तु ते महादेव नमस्ते भक्तवत्सल ।
सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु प्रसीद परमेश्वर ।।
अव्यक्तव्यक्तरूपेण व्याप्तं सर्वं त्वया विभो ।

(शान्तिपर्व–दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ४७)

"महादेव ! आपको नमस्कार है । भक्त वत्सल ! आपको नमस्कार है ! सुब्रह्मण्य (विष्णु) ! आपको नमस्कार है । परमेश्वर ! आप मुझ पर प्रसन्न हों । प्रभो ! आपने अव्यक्त और व्यक्त स्वरूप सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर रखा है ।

नारायणं सहस्राक्षं सर्वलोकमहेश्वरम् ।।
हिरण्यनाभं यज्ञाङ्गमृतं विश्वतोमुखम् ।
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षं प्रपद्ये पुरुषोत्तमम् ।।

(शान्तिपर्व–दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ४७)

"मैं सहस्रों नेत्र धारण करने वाले सर्व लोकों के महेश्वर, हिरण्यनाभ, यज्ञाङ्गस्वरूप, अमृतमय, सब ओर मुख वाले और कमलनेत्र पुरुषोत्तम श्री नारायणदेव की शरण लेता हूं ।

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्तितेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदयस्थो देवेशो मङ्गलायतनं हरिः ।।

(शान्तिपर्व–दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ४७)

"जिनके हृदय में मङ्गलभवन देवेश्वर श्री हरि विराजमान हैं, उनका सभी कार्यों में सदा मङ्गल ही होता है । कभी किसी भी कार्य में अमङ्गल नहीं होता ।

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं मधुसूदनः ।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलं गरुडध्वजः ॥

(शान्तिपर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ४७)

"भगवान् विष्णु मंगलमय हैं, मधुसुदन मङ्गलमय हैं, कमल-नयन मङ्गलमय हैं, और गरुड़ध्वज मङ्गलमय हैं ।

× × ×

परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥

(शान्तिपर्व ४७ । ७०)

"जो काल से परे हैं, यज्ञ से भी परे हैं और परे से भी अत्यन्त परे हैं, जो सम्पूर्ण विश्व के आदि हैं; किन्तु जिनका आदि कोई भी नहीं है, उन विश्वात्मा परमेश्वर को नमस्कार है ।

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

(शान्तिपर्व ४७ । ८४)

"जिनमें सब कुछ रहता है, जिनसे सब कुछ उत्पन्न होता है, जो स्वयं ही सर्वरूप हैं, सदा ही सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्मा को प्रणाम है ।

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसंभव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥

(शान्तिपर्व ४७ । ८५)

"इस विश्व की रचना करने वाले परमेश्वर ! आपको प्रणाम है । विश्व के आत्मा और विश्व की उत्पत्ति के स्थान-भूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है । आप पाँचों भूतों से परे और सम्पूर्ण प्राणियों के मोक्षस्वरूप ब्रह्म हैं ।

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं ही सर्वमयो निधिः।।

(शान्तिपर्व ४७ । ८६)

"तीनों लोकों में व्याप्त हुए आपको नमस्कार है, त्रिभुवन से परे रहने वाले, आपको प्रणाम है। सम्पूर्ण दिशाओं में व्यापक आप प्रभु को नमस्कार है; क्योंकि आप सब पदार्थों के पूर्ण भण्डार हैं।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय।।

(शान्तिपर्व ४७ । ९२)

"भगवान् श्रीकृष्ण को एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञों के अन्त में किये गए स्नान के समान फल देने वाला होता है। इसके सिवा इनको किये प्रणाम में एक विशेषता है—दस अश्वमेध करने वाले का तो पुनः इस संसार में जन्म होता है, किन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाला फिर भव-बन्धन में नहीं आता।

कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे।।

(शान्तिपर्व ४७ । ९३)

"जिन्होंने श्रीकृष्ण का ही व्रत ले रक्खा है, जो श्रीकृष्ण का निरन्तर स्मरण करते हुए रात को सोते हैं और उन्हीं का स्मरण करते हुए उठते हैं, वे श्रीकृष्ण स्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्नि में मिल जाता है।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

(शान्तिपर्व ४७। ९५)

"जो ब्राह्मणों के प्रेमी तथा गो और ब्राह्मणों के हितकारी हैं, जिनसे समस्त विश्व का कल्याण होता है, उन सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् गोविन्द को प्रणाम है।

त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम॥

(शान्तिपर्व ४७। ९८)

"देवताओं में श्रेष्ठ कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्ण ! मैं आपका शरणागत भक्त हूँ और अभीष्ट गति को प्राप्त करना चाहता हूँ; जिसमें मेरा कल्याण हो वह आप ही सोचिये।

नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा॥

(शान्तिपर्व ४७। १००)

"नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम् तप हैं और नारायण ही सबसे बड़े देवता हैं और भगवान् नारायण ही सदा सब कुछ हैं।

(४)

(श्रीमद्भगवद्गीता से)

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

(गीता ११। १५)

विश्वरूपप्रदर्शन होने पर अर्जुन रोमाञ्चित हो हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं—"हे देव ! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों

को तथा अनेक भूतों के समुदायों को, कमल के आसन पर विराजित ब्रह्मा को, महादेव को और सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ।

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।।

(गीता ११ । १६)

"हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रों सहित तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।

(गीता ११ । १७)

"आपको मैं मुकुट, गदा और चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त, कठिनता से देखे जाने योग्य और सब ओर से अप्रमेय स्वरूप देखता हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषोमतो मे ।।

(गीता ११ । १८)

"आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत् के परम-आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मेरा मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।

(गीता ११ । १९)

"आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य युक्त, अनन्त भुजा वाले, चन्द्र-सूर्यरूपी नेत्रों वाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुख वाले और अपने तेज से इस जगत् को तपाते हुए देखता हूं ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।

(गीता ११ । २०)

"हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आप से ही परिपूर्ण हैं एवं आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं ।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।।

(गीता ११ । २१)

"वे ही देवताओं के समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणों का उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोतों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्व यक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।

(गीता ११ । २२)

"जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरों का समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं।

यथाप्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकांस्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

(गीता ११। २९)

"जैसे पतंग मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अति वेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अति वेग से दौड़ते हुये प्रवेश कर रहे हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

(गीता ११। ३८)

"आप आदि-देव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत् के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।

(गीता ११। ३९)

"आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो ! आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !!

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

(गीता ११ । ४०)

"हे अनन्त सामर्थ्य वाले ! आपके लिये आगे से और पीछे से भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओर से ही नमस्कार हो; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसार को व्याप्त किये हुये हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।"

४—भगवान् शिव की वन्दना

नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च।
पशूनां पतये नित्यमुग्राय च कपर्दिने ॥
महादेवाय भीमाय त्र्यम्बकाय च शान्तये।
ईशानाय मखघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥

(द्रोण पर्व ८० । ५५, ५६)

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन भगवान् शिव की वन्दना करते हुए कहते हैं—"भव (सब की उत्पत्ति करने वाले), शर्व (संहारकारी), रुद्र (दुःख दूर करने वाले), वरदाता, पशुपति (जीवों के पालक), सदा उग्र रूप से रहने वाले और जटाजूट धारी भगवान् शिव को नमस्कार है। महान् देवता, भयंकर रूप धारी तीन नेत्र धारण करने वाले, सबका शासन करने वाले, दक्षयज्ञ-नाशक तथा अन्धकासुर का विनाश करने वाले भगवान् शङ्कर को प्रणाम है।

विश्वात्मने विश्वसृजे विश्वमावृत्य तिष्ठते।
नमो नमस्ते सेव्याय भूतानां प्रभवे सदा ॥

(द्रोण पर्व ८० । ६१)

"विश्वात्मा, विश्वसृष्टा, विश्व को व्याप्त करके स्थित, सबके सेवन करने योग्य तथा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति के कारणभूत आप भगवान् शिव को बारम्बार नमस्कार है।

ब्रह्मवक्त्राय सर्वाय शङ्कराय शिवाय च।
नमोऽस्तु वाचस्पतये प्रजानां पतये नमः ।।

(द्रोण पर्व ८० । ६२)

"ब्राह्मण जिनके मुख हैं, उन सर्व-स्वरूप कल्याणकारी भगवान् शिव को नमस्कार है। वाणी के अधीश्वर और प्रजाओं के पालक आपको नमस्कार है।

नमो विश्वस्य पतये महतां पतये नमः ।
नमः सहस्रशिरसे सहस्रभुजमृत्यवे ।।
सहस्रनेत्रपादाय नमोऽसंख्येयकर्मणे ।
नमो हिरण्यवर्णाय हिरण्यकवचाय च ।
भक्तानुकम्पिने नित्यं सिध्यतां नो वरः प्रभो ।।

(द्रोण पर्व ८० । ६३ से ६४)

"विश्व के स्वामी और महा पुरुषों के पालक भगवान् शिव को नमस्कार है, जिनके सहस्रों सिर और सहस्रों भुजाएँ हैं, जो मृत्यु-स्वरूप हैं, जिनके नेत्र और पैर भी सहस्रों की संख्या में हैं, उन भगवान् शिव को नमस्कार है। स्वर्ण के समान जिनका रङ्ग है, जो स्वर्णमय कवच धारण करते हैं, उन आप भक्तवत्सल भगवान् को मेरा नित्य नमस्कार है। प्रभो! हमारा अभीष्ट वर सिद्ध हो।"

---

२. भगवान् के विभिन्न नाम-रूपों का महत्त्व एवं व्याख्या

१. ॐकार * एवं गायत्री का महत्व

प्रणवः सर्व वेदेषु ।

—श्रीमद्भगवद्गीता ७।८

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"सब वेदों का सार 'ॐकार' है [और वह मैं हूँ]।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ८।१३

"जो पुरुष 'ॐ' ऐसे (इस) एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ (और उसके अर्थ स्वरूप) मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।"

---

* ॐकार को प्रणव भी कहते हैं। इसीसे सब व्याहृतियाँ और व्याहृतियों से वेद उत्पन्न हुए। वेद, स्मृति, पुराण आदि सभी ग्रन्थों में इसके महत्त्व को प्रगट किया गया है। यथा—

तत्र सर्व वेदानां सारमस्ति ।

'हे नचिकेता, ॐ, की साधना में ही समस्त वेदों का सार है।'

सर्वेषामेव मन्त्राणाम् कारणं प्रणवः स्मृतः ।
तस्मात् व्याहृतयो जातास्ताभ्यो वेदत्रयं तथा ॥

—वृद्धहारीतिस्मृति ६।८८

(आगे भी देखिये)

ओङ्कारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च।
यदस्मिन् नियतं लोके सर्वं सावित्रिरुच्यते॥
गायत्रीच्छन्दसामादिः प्रजानां सर्ग उच्यते।
—आश्वा० ४४।६७

ब्रह्माजी कहते हैं—"ॐकार सम्पूर्ण वेदों का, प्राण और वाणी का आदि है। इस संसार में जो नियत उच्चारण है वह सब गायत्री कहलाता है। छन्दों का आदि गायत्री, प्रजा का आदि (सृष्टि का प्रारम्भ काल) है।"

"ओंकार समस्त मंत्रों का हेतुभूत है, ओंकार से व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं और व्याहृतियों से तीनों वेद उत्पन्न हुए।"

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापति।
वेदत्रयान्निरहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥
—मनुस्मृति २।७६

"ब्रह्माजी ने अकार, उकार, मकार अर्थात् ॐ को और भूर्भुवः स्वः को तीनों वेदों से निकाला था।"

ओंकारं बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः॥

"योगी पुरुष अनुस्वारयुक्त ओंकार का सदा ध्यान करते हैं, अतः समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले तथा मोक्षदायक ओंकार को हम नमस्कार करते हैं।"

ॐ इत्येकाक्षरं ध्यानात् विष्णुर्विष्णुत्वमाप्रवान्।
ब्रह्मा ब्रह्मात्वमापन्नः शिवतामभवत् शिवः॥

"ॐ इस एकाक्षर मन्त्र के ध्यान से विष्णु विष्णुत्व को, ब्रह्मा ब्रह्मत्व को तथा शिव शिवत्व को प्राप्त हुए।

ॐ स्मर। —यजुर्वेद अ० १५

(आगे भी देखिये)

गायत्री ॐ छन्दसामहम् ।

—श्री मद्भगवद्गीता १०।३५

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"छन्दों में गायत्री मैं (साक्षात् ब्रह्म) हूं।"

वेद भगवान् का उपदेश है कि—"ॐ का स्मरण करो।"

प्रणवं मंत्राणां सेतुः । —व्यासः

"प्रणव मंत्रों का पुल है अर्थात् मन्त्र पार करने के लिए प्रणव की आवश्यकता अपरित्याज्य है।"

यदोङ्कारमकृत्वा किञ्चिदारम्भते तद्वज्री भवति ।
तस्माद्वज्रभवाद्भीतओंकारं पूर्वमारभेति ॥

"बिना ओंकार का उच्चारण किये सभी कार्य वज्रवत् अर्थात् निष्फल हो जाते हैं, अतः वज्रभय से डरकर प्रथम ॐ का उच्चारण करे।" —'गायत्री का मंत्रार्थ' से

ॐ **गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री ।** —ऐतरेय ब्राह्मण

"जो गय (प्राणों) की रक्षा करती है, वह गायत्री है।"

गायत्री प्रोच्यते तस्माद् गायन्तां त्रायते यतः ।

—याज्ञवल्क्य

"गायत्री इसलिये कहा जाता है, क्यों कि वह प्राणों की रक्षा करती है"

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय से गायत्री का महत्त्व सिद्ध है। 'गायत्री जप' का महत्त्व आगे 'जपयज्ञ' में देखिये। भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् राम, कौरव, पाण्डव आदि सभी सन्ध्या वन्दन एवं गायत्री का जप किया करते थे।

२. यज्ञ *

१. यज्ञ ब्रह्मरूप है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३।१४–१५

भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं—"अन्न से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। तू ऐसा समझ कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षर-ब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्व व्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है।"

२. यज्ञ से ही पुष्टि एवं तुष्टि—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

---

* प्राचीनकाल में विभिन्न यज्ञ, विभिन्न प्रयोजनों के लिये किये जाते थे। वर्षा के लिए इन्द्रयज्ञ, धन-समृद्धि के लिए विष्णु-यज्ञ, शत्रुसंहार के लिए चण्डी–यज्ञ, रोग-निवारण के लिए रुद्र-यज्ञ आदि। यज्ञों की सूक्ष्म शक्ति विख्यात है। महाराज दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ द्वारा राम–लक्ष्मण–भरत–शत्रुघ्न जैसी उत्तम सन्तान प्राप्त की थी।

वर्तमान सङ्कटापन्न स्थिति के लिए अध्यात्म-विज्ञान पर आधारित अग्नि होत्रों की आवश्यकता है। इसमें गायत्री यज्ञ ही सर्व-श्रेष्ठ सिद्ध हो सकते हैं। सद्बुद्धि की देवी गायत्री के यज्ञानुष्ठान से ही विश्वशान्ति की समस्या हल हो सकती है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता ३।१०-१२

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"यज्ञ के सहित प्रजा को उपजाकर प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—इस यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें मनचाहा फल दें। तुम यज्ञों द्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें। और एक दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ। यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें मनचाहे भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ भोग जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।"

३. यज्ञ कभी भी त्याग करने योग्य नहीं—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता १८।५

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—"यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं, वरन् करने योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकी को भी पावन करने वाले हैं।"

४. यज्ञों में वर्जनीय वस्तु—

सुरा मत्स्या मधु मांसासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्य तन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ।।

(शान्ति पर्व २६५।९)

कपिल मुनि कहते हैं—"सुरा, आसव, मधु, मांस, मछली तथा तिल और चावल की खिचड़ी—इन सब वस्तुओं

को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है।"

यस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया॥

(शान्ति पर्व २७२।१८)

नारद जी कहते हैं—"'मैं (सत्य नामक एक ब्राह्मण) उस पशु का बध करके स्वर्ग लोक प्राप्त करूंगा'—यह सोचकर मृग की हिंसा करने के लिये उद्यत उस ब्राह्मण (सत्य नामक) का महान् तप तत्काल नष्ट हो गया—इसलिये हिंसा यज्ञ के लिए हितकर नहीं है।"

५. यज्ञ से बचे हुए अन्न का भोजन अमृत है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ३।१३)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जो यज्ञ से उबरा हुआ खाने वाले हैं, वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो अपने लिये ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं।"

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।३१)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"हे कुरुसत्तम! यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातम ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वालों के लिये यह लोक नहीं हैं, तब परलोक कहाँ से हो सकता है?"

६. विभिन्न प्रकार के यज्ञ—

आलम्भयज्ञा क्षत्राश्च हविर्यज्ञाविशः स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः ॥

(शान्ति पर्व २३२।३१)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"ब्राह्मणों के लिए तप ही यज्ञ है, क्षत्रियों के लिये हिंसा-प्रधान युद्ध आदि ही यज्ञ हैं, वैश्यों के लिये घृत आदि हविष्य की आहुति देना ही यज्ञ है और शूद्रों के लिये तीनों वर्णों की सेवा ही यज्ञ है।"

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२४)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म हैं और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना—रूपक्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है। **(अर्थात् कर्ता, कर्म और करण आदि समस्त पदार्थों में** ब्रह्म **भावना का अभ्यास रूप यह** 'ब्रह्म **यज्ञ**' **कहलाता है।)**

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२५)

"दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं (यह देवपूजन-यज्ञ है)। अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि में **अभेद दर्शन–रूप यज्ञ** के द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं (यह अभेद दर्शन रूप यज्ञ है)।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२६)

"अन्य योगीजन श्रोत आदि समस्त इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं (**यह संयम रूप यज्ञ है**) । दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। (अर्थात् वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के समस्त प्रारब्धानुसार अनुकूल-प्रतिकूल प्राप्त विषयों का सेवन शान्त अन्तःकरण से, हर्ष शोकादि विकारों से रहित होकर अनासक्तभाव से करते हैं। विषयों में आसक्ति, सुख और रमणीय बुद्धि न रहने के कारण वे साधक पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते और वे सब स्वयं अग्नि में घास की भाँति भस्म हो जाते हैं) ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्यसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२७)

"दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं को और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित **आत्म-संयम-योग-रूप** अग्नि में हवन करते हैं। (अर्थात् मनोनिग्रह पूर्वक ध्यानयोग के द्वारा परमात्मा के ध्यान-रूपी अग्नि में समस्त इन्द्रियों की क्रियाओं का हवन करते हैं)।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२८)

"कई पुरुष **द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ** (अर्थात् समस्त प्राणियों को सुख पहुँचाने के लिये यथाशक्ति द्रव्य का उपयोग करना)

करने वाले हैं, कितने ही **तपस्यारूप यज्ञ** (परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से अन्तःकरण और इन्द्रियों को पवित्र करने के लिये ममता-आसक्ति और फलेच्छा के त्याग पूर्वक व्रत-उपवास आदि करना, धर्मपालन के लिए विविध कष्ट सहन करना, मौन धारण करना आदि) करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही **योगरूप यज्ञ** (अष्टांगयोग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी आठ अंगों वाला योग) करने वाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्न-शील पुरुष **स्वाध्यारूप ज्ञानयज्ञ** (सद्शास्त्रों का अध्ययन, भगवान् की स्तुति,जप,कीर्तन. अधिकारी सज्जनों को गीता आदि शास्त्रों का पाठन कराना, उपदेशादि देना आदि) करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२९-३०)

"दूसरे कितने ही योगी-जन अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं। वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं तथा कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम-परायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोक-कर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं।" (अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक आदि प्राणा-याम आसक्ति और फलेच्छा के त्यागपूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से करते हैं)।

साधक को उपर्युक्त अनेक यज्ञों में अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार कुछ यज्ञ चुनकर अवश्य करने चाहिये।

जप–यज्ञ

१. जपयज्ञ यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ और ब्रह्म स्वरूप है—

'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि ।' (श्रीमद्भगवद्गीता १०-२५)

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों को बताते हुए कहते हैं कि—"यज्ञों में मैं जययज्ञ हूं।" अर्थात् जपयज्ञ साक्षात् मेरा स्वरूप है और मेरा स्वरूप होने के कारण यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ है।

२. जप-यज्ञ का फल (परमपद की प्राप्ति)—

ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम् ।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते ।।

(शान्ति पर्व १९९।१२४)

भीष्मजी कहते हैं—"ब्रह्मपद पुनरावृत्तिरहित, एक, अविनाशी, संज्ञारहित, दुःखशून्य, अजर और शान्त-आश्रय है, उसे ही वह जापक प्राप्त होता है।"

भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा ।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ।।

(शान्ति पर्व २००।२३)

भीष्मजी कहते हैं—"ब्रह्माजी ने उस तेजोमय पुरुष (गायत्री के जापक) का स्वागत करने के पश्चात् पुनः उससे मधुर वाणी में कहा—'विप्रवर ! योगियों को जो फल मिलता है, निस्सन्देह वही फल जप करने वालों को भी प्राप्त होता है'।"

३. विविध प्रकार के जप और उनका फल—

(क) गायत्री का जप—

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः ।
अहिंसो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्विषैः ।।

(शान्ति पर्व ३५।३७)

व्यासजी कहते हैं—"जो पवित्र स्थान में मिताहारी हो हिंसा का सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदि से शून्य हो मौनभाव से गायत्री का जप करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।"

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन्॥

(अनुशासन पर्व १५०।६८)

भीष्मजी कहते हैं—"जो मनुष्य जहाज में, या किसी सवारी में बैठने पर, विदेशों में या राजदरबार में जाने पर मन-ही-मन उत्तम गायत्री का जप करता है, वह परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात्।
नाग्न्याम्बुपवनव्यालात् भयं तस्योपजायते॥

(अनुशासन पर्व १५०।६९)

"गायत्री का जप करने से राजा, पिशाच, राक्षस, आग, पानी, हवा और साँप आदि का भय नहीं होता।

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः॥

(अनुशासन पर्व १५०।७१)

"जहाँ गायत्री का जप किया जाता है, उस घर के काठ के किवाड़ों में आग नहीं लगती। वहाँ बालक की मृत्यु नहीं होती तथा उस घर में साँप नहीं टिकते हैं।

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम्।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्री गुणकीर्तनम्॥

(अनुशासन पर्व १५०।७२)

"उस घर के निवासियों को, जो परब्रह्मस्वरूप गायत्री मंत्र के गुणों का कीर्तन सुनते हैं, कभी दुःख नहीं होता है तथा वे परम गति को प्राप्त होते हैं।

तदेतत् ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्म सनातनम् ।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ।।

(अनुशासन पर्व १५०।७६)

"वही यह मंत्र तुमसे कहा गया है। यह गायत्री मंत्र सत्य एवं सनातन ब्रह्मरूप है। यह सम्पूर्ण भूतों का हृदय एवं सनातन श्रुति है।

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ।'

(अनुशासन पर्व १५०।७७)

"चन्द्र, सूर्य, रघु और कुरु के वंश में उत्पन्न हुए सभी राजा पवित्र भाव से प्रतिदिन गायत्री-मंत्र का जप करते आये हैं। गायत्री संसार के प्राणियों की परमगति है।

(ख) 'ॐ नमो नारायण'—मंत्र का महत्व—

नमो नारायणायेति यो वेद ब्रह्म शाश्वतम् ।
अन्तकाले जपन्नेति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १२४)

नारदजी पुंडरीक को कहते हैं—"जो 'ॐ नमो नारायण' इस अष्टाक्षर मंत्र को सनातन ब्रह्मरूप जानता है और अन्तकाल में इसका जप करता है, वह भगवान् विष्णु के परमपद को प्राप्त कर लेता है।"

अथ कालेन महता तथा प्रत्यक्षतां गतः ।
संस्तुतः स्तुतिभिर्वेदैर्देवगन्धर्वकिन्नरैः ।।

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १२४)

भीष्म जी कहते हैं—"(पुण्डरीक ने नारदजी के उपदेशानुसार नारायण के मन्त्र का ध्यान सहित जप किया) तदनन्तर दीर्घकाल के बाद भगवान् ने उसी रूप में (शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज रूप में) उसको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उस समय सम्पूर्ण वेद तथा देवता, गन्धर्व और किन्नर नाना प्रकार के स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति करते थे।"

(ग) 'ॐ नमो शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' आदि प्रत्येक मंत्र का फल परम सिद्धि है। भगवान् कृष्णजी ने महर्षि उपमन्यु के उपदेशानुसार शिव की आराधना की। कृष्णजी के उपदेशानुसार अर्जुन आदि पाण्डवों ने शिव की आराधना से परम सिद्धि प्राप्त कीं। इसी प्रकार ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' के मन्त्र द्वारा ध्रुव ने परम सिद्धि और अटल पद पाया। अपनी श्रद्धा के अनुसार साधक किसी भी मंत्र अथवा नाम से परम सिद्धि पा सकता है, क्योंकि भगवान् एक हैं और सब नाम उन्हीं के हैं। यहां विस्तार भय से अधिक प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

४. जापक के दोष—

अहंकारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः॥

(शान्ति पर्व १९७।५)

भीष्मजी कहते हैं—"जप के कारण अपने में बड़प्पन का अभिमान करने वाले सभी जापक नरक (पतन) गामी होते हैं। दूसरों का अपमान करने वाला जापक भी नरक में ही पड़ता है।

अवमानेन कुरुते न प्रीयति न हृष्यति ।
ईदृशो जापको याति निरयं नात्र संशयः ।।

(शान्ति पर्व १९७।४)

"जो अवहेलनापूर्वक जप करता है, उसके प्रति प्रेम या प्रसन्नता नहीं प्रकट करता है, ऐसा जापक भी निस्सन्देह नरक में ही पड़ता है ।" ❀

३—भगवान् नारायण का महत्त्व

स आदिः स मध्यः स चान्तः प्रजानां
स धाता स धेयं स कर्ता स कार्यम् ।
युगान्ते प्रसुप्तः सुसंक्षिप्य लोकान्
युगादौ प्रबुद्धो जगद्ध्युत्ससर्ज ।।

(शान्ति पर्व ३४० । १००)

हयग्रीवरूप भगवान् ब्रह्मा आदि देवगणों से कहते हैं–"वे ही भगवान् नारायण प्रजा के आदि, मध्य और अन्त हैं। वे ही धाता, धेय, कर्त्ता और कार्य हैं। वे ही युगों के अन्त के समय सम्पूर्ण लोकों का संहार करके सो जाते हैं और वे ही कल्प के आदि में जाग्रत हो सम्पूर्ण जगत् की रचना करते हैं।

❀ आगे इसी शान्ति पर्व के १ ८ के अध्याय में युधिष्ठिर जी ने शंका की कि 'जप करने वालों को नरक की प्राप्ति कैसे होती है'—इस पर भीष्म जी उत्तर देते हैं कि 'आत्म-कैवल्य रूपी परमधाम की तुलना में अन्य लोक स्वर्ग आदि भी तुच्छ हैं, 'अत: नरक रूप ही हैं।' अर्थात् जापक की उसके जप सम्बन्धी दोषों के कारण अधोगति (तिर्यग् आदि योनियों की प्राप्ति अथवा रौरव आदि अत्यन्त निम्नतर लोकों की प्राप्ति) तो नहीं होती, किन्तु उसे परमगति—परमात्मा की प्राप्ति—नहीं होती। अत: उसे अभिमान ईर्ष्या, फलेच्छा आदि सब दोषों को त्यागकर निष्काम भाव से ही जप करना चाहिये।

तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने ।
अजाय विश्वरूपाय धाम्ने सर्वदिवौकसाम ॥

(शान्ति पर्व ३४० । १०१)

"शिष्यो ! तुम उन्हीं अजन्मा, विश्वरूप, सम्पूर्ण देवताओं के आश्रय निर्गुण परमात्मा नारायण देव को नमस्कार करो ।

स कर्ता कारणं चैव कार्यं चाति बलद्युतिः ।
हेतुश्चाज्ञा विधानं च तत्त्वं चैव महायशाः ॥

(शान्ति पर्व ३४३ । ५६)

नारद मुनि कहते हैं—"वे ही कर्ता, कारण और कार्य हैं । उनका बल और तेज अनन्त हैं । वे महा यशस्वी भगवान् ही हेतु, आज्ञा, विधि और तत्त्वरूप हैं ।

नारायणपरावेदा यज्ञा नारायणात्मकाः ।
तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥
नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥

(शान्ति पर्व ३४७ । ८१, ८२)

वैशम्पायनजी कहते हैं—"वेदों का अन्त भगवान् नारायण में ही है । यज्ञ नारायण के ही स्वरूप हैं । तपस्या के परम फल भगवान् नारायण ही हैं तथा नारायण की प्राप्ति ही सर्वोत्तम गति है । सत्य के परम लक्ष्य नारायण ही हैं । ऋत नारायण ही का स्वरूप है । जिसके आचरण से पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती, उस धर्म के भी चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं ।

नारायणपरा कीर्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताः ।
नारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः ॥

(शान्ति पर्व ३४७ । ८७)

"कीर्ति, श्री और लक्ष्मी आदि देवियां नारायण को ही अपना परम आश्रय मानती हैं। सांख्य का परम तात्पर्य भी नारायण ही हैं और योग भी नारायण का ही स्वरूप है।

अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च।
यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः॥

(शान्ति पर्व ३४८–६०)

"ये अविनाशी पुरुष नारायण ही अकर्ता, कर्ता, कार्य और कारण हैं। ये जैसा चाहते हैं, वैसे ही क्रीड़ा करते हैं।"

यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः।
स एव सर्वभूतात्मा नर इत्यभिधीयते॥
नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १२४)

नारदजी पुंडरीक को कहते हैं—"जो चौबीस तत्त्वमयी प्रकृति से उसका साक्षिभूत पच्चीसवां तत्त्व पुरुष कहा गया है तथा जो सम्पूर्ण भूतों की आत्मा है उसी को 'नर' कहते हैं। नर से सम्पूर्ण तत्त्व प्रकट हुए हैं, इसलिए उन्हें 'नार' कहते हैं। नार ही भगवान् का अयन-निवास स्थान है, इसलिये वे नारायण कहलाते हैं।

नारायणाज्जगत् सर्वं सर्गकाले प्रजायते।
तस्मिन्नेव पुनस्तच्च प्रलये सम्प्रलीयते॥
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परात् परम्॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १२४)

"सृष्टिकाल में यह सारा जगत् नारायण से ही प्रकट होता है और प्रलयकाल में फिर उन्हीं में लीन होता है। नारा-

यण ही परब्रह्म हैं, परमपुरुष नारायण ही सम्पूर्ण तत्त्व हैं, वे ही पर से भी परे हैं। उनके सिवा दूसरा कोई परात्पर तत्त्व नहीं है।

वासुदेवं तथा विष्णुमात्मानं च तथा विदुः।
संज्ञा भेदैः स एवैकः सर्वशास्त्राभिसंस्कृतः॥
आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १२४)

"उन्हीं को वासुदेव, विष्णु तथा आत्मा कहते हैं। संज्ञा भेद से एकमात्र नारायण ही सम्पूर्ण शास्त्रों द्वारा वर्णित होते हैं। समस्त शास्त्रों का आलोडन करके बारंबार विचार करने पर एक मात्र यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि सदा भगवान् नारायण का ध्यान करना चाहिये।

मुहूर्तमपि यो ध्यायेन्नारायणमतन्द्रितः।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किं पुनस्तत्परायणः॥
नमो नारायणायेति यो वेद ब्रह्म शाश्वतम्।
अन्तकाले जपन्नेति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १२४)

"जो आलस्य छोड़कर दो घड़ी भी नारायण का ध्यान करता है, वह भी उत्तम गति को प्राप्त होता है। फिर जो निरन्तर उन्हीं के भजन-ध्यान में तत्पर रहता है, उसकी तो बात ही क्या है। जो 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्र को सनातन ब्रह्म रूप जानता है और अन्तकाल में इसका जप करता है, वह भगवान् विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेता है।

लिप्यते न स पापेन नारायणपरायणः।
पुनाति सकलं लोकं सहस्रांशुरिवोदितः॥
(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १२४)

"नारायण के भजन में तत्पर रहने वाला पुरुष पाप से लिप्त नहीं होता। वह उदित हुये सहस्र किरणों वाले सूर्य की भांति समस्त लोक को पवित्र पर देता है।"

४–भगवान् शिव* का महत्त्व

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम्॥
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः।
(शान्ति पर्व ३४१–२४–२५)

भगवान् कृष्ण कहते हैं—'यदि मैं वरदाता भगवान् शिव की पूजा न करूं तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शङ्कर का पूजन नहीं करेगा, ऐसो मेरी धारणा है।

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु॥
(शान्ति पर्व ३४१–२७)

कुन्तीनन्दन! रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप

---

*१–भगवान् श्रीराम 'रामचरित मानस' में कहते हैं:—
सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ मति थोरी॥
२–संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास।
३–हरि हर निन्दा सुनइ जो काना।
होइ पाप गोघात समाना॥

हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न भिन्न व्यक्तियों में स्थित हो संसार में यज्ञ आदि सब कर्मों में प्रवृत होते हैं।

नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमागतिः।
नास्ति शर्व समो दाने नास्ति शर्व समो रणे॥

(अनुशासन पर्व १५–११)

महर्षि उपमन्यु श्री कृष्ण भगवान् को उपदेश देते हुए कहते हैं—"महादेवजी के समान कोई देव नहीं है। महादेव जी के समान कोई गति नहीं है। दान में शिवजी की समानता करने वाला कोई नहीं है तथा युद्ध में भी भगवान् शंकर के समान दूसरा वीर नहीं है।

यश्चाभ्यसूयते देवं कारणात्मानमीश्वरम्।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहात्मजैः॥

(अनुशासन पर्व १७–१८)

"श्रीकृष्ण! जो जगत् के कारणरूप ईश्वर महादेव के प्रति दोष-दृष्टि रखता है, वह पूर्वजों और अपनी सन्तान के सहित नरक में पड़ता है।

ये सर्वभावानुगताः प्रपद्यन्ते महेश्वरम्।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात् तान् समुद्धरेत्॥

(अनुशासन पर्व १७–१६८)

"जो सम्पूर्ण भाव से अनुगत होकर महेश्वर की शरण लेते हैं, शरणागत–वत्सल महादेवजी इस संसार में उनका उद्धार कर देते हैं।"

५–भगवान् श्रीकृष्ण का महत्त्व

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

(उद्योग पर्व ६८–९)

संजय धृतराष्ट्र को कहते हैं—"जिस ओर सत्य, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहां भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है।

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥

(उद्योग पर्व ६८। १२)

"ये भगवान् केशव ही अपनी योग शक्ति से लगातार कालचक्र, संसार-चक्र तथा युगचक्र को घुमाते रहते हैं।

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

(उद्योग पर्व ६८। १३)

मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एक मात्र भगवान् श्री कृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत् के स्वामी एवं शासक हैं।

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यंते न ते मुह्यन्ति मानवाः॥

(उद्योग पर्व ६८। १५)

"भगवान् केशव अपनी माया के प्रभाव से सब लोगों को मोह में डाले रहते हैं; किन्तु जो मनुष्य केवल उन्हीं की शरण ले लेते हैं, वे उनकी माया से मोहित नहीं होते हैं।

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्त्वाद् विष्णुरुच्यते॥

(उद्योग पर्व ७०—३)

"भगवान् समस्त प्राणियों के निवास स्थान हैं तथा वे सब भूतों में वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओं की उत्पत्ति के स्थान होने से और समस्त देवता उनमें वास करते

हैं इसलिए उन्हें 'देव' कहा गया है । अतएव उनका नाम **'वासुदेव'** है ऐसा जानना चाहिये । बृहत् अर्थात् व्यापक होने के कारण वे ही **'विष्णु'** कहलाते हैं ।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥

(उद्योग पर्व ७० । ५)

"कृष् धातु सत्ता अर्थ का वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थ का बोध कराता है, इन दोनों भावों से युक्त होने के कारण यदुकुल में अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्री विष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ।

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः ।

(उद्योग पर्व ७० । १२½)

"श्री कृष्ण सत्य में प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है । वे भगवान् गोविन्द सत्य से भी उत्कृष्ट सत्य हैं । अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है ।"

अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः ॥

(उद्योग पर्व १३० । ५१)

विदुर जी कहते हैं—"ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है । सबके पुरुषार्थ के कारण भी यही हैं । ये भगवान् श्रीकृष्ण जी जो इच्छा करें, वह सब बिना किसी यत्न के ही पूरी कर सकते हैं ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गीता में कहते हैं—"किन्तु जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों को योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) मैं स्वयं प्राप्त करा देता हूं।"

कृष्णः पृथ्वीमसृजत् खं दिवं च कृष्णस्य देहान्मेदिनी सम्बभूव।
वराहोऽयं भीमबलः पुराणः स पर्वतान् व्यसृजद् वै दिशश्च॥

(अनुशासन पर्व १५८। ७)

भीष्म पितामह कहते हैं—"श्रीकृष्ण ने ही इस पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग की सृष्टि की है। इन्हीं के शरीर से पृथ्वी का प्रादुर्भाव हुआ है। ये ही भयंकर बल वाले वराह के रूप में प्रकट हुए थे तथा इन्हीं पुराण-पुरुष ने पर्वतों और दिशाओं को उत्पन्न किया है।"

स विश्वकर्मा स हि विश्वरूपः स विश्वभुग् विश्वसृग् विश्वजिच्च।
स शूलभृच्छोणितभृत् करालस्तं कर्मभिर्विदितं वै स्तुवन्ति॥

(अनुशासन पर्व १५८। १४)

श्री कृष्ण ही विश्वकर्मा, विश्वरूप, विश्वभोक्ता, विश्व-विधाता और विश्वविजेता हैं। वे ही एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे हाथ में रक्त भरा खप्पर लिये विकराल रूप धारण करते हैं। अपने नाना प्रकार के कर्मों से जगत् में विख्यात हुए श्रीकृष्ण की ही सब लोग स्तुति करते हैं।

वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्वमग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः।
आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं ब्रह्मा भूत्वा सृजते विश्वसंघान्॥

(अनुशासन पर्व १५८। ३५)

"ये विश्वरूप श्रीकृष्ण ही वायुरूप धारण करके संसार को चेष्टा प्रदान करते हैं, अग्नि रूप होकर सबको भस्म करते

हैं, जल का रूप धारण करके जगत् को डुबाते हैं और ब्रह्मा होकर सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करते हैं।

ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात् प्रकाशते यत्प्रभया विश्वरूपः।
अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्मयोनिः पुराकरोत् सर्वमेवाथ विश्वम्॥

(अनुशासन पर्व १५८ । ३७)

"ये विश्वरूप धारी श्रीकृष्ण परम ज्योतिमय सूर्य का रूप धारण करके पूर्व दिशा में प्रकट होते हैं, जिनकी प्रभा से जगत् प्रकाशित होता है। ये समस्त प्राणियों की उत्पत्ति के स्थान हैं। इन्होंने पूर्वकाल में पहले जल की सृष्टि करके फिर सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया था।

शुभाशुभं स्थावरं जङ्गमं च विश्वक्सेनात् सर्वमेतत् प्रतीहि।
यद् वर्तते यच्च भविष्यतीह सर्वं ह्येतत् केशवं त्वं प्रतीहि॥

(अनुशासन पर्व १५८ । ४३)

'शुभ-अशुभ और स्थावर–जंगमरूप यह सारा जगत् श्रीकृष्ण से उत्पन्न हुआ है, इस बात पर विश्वास करो। भूत, भविष्य और वर्तमान सब श्री कृष्ण का ही स्वरूप है। यह तुम्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

यत् प्रशस्तं च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम्
तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्यो विपरीतमतः परम्॥

(अनुशासन पर्व १५८ । ४५)

"तीनों लोकों में जो कुछ भी उत्तम, पवित्र तथा शुभ या अशुभ वस्तु है, वह सब अचिन्त्य भगवान् श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है, श्रीकृष्ण से भिन्न कोई वस्तु है, ऐसा सोचना अपनी विपरीत बुद्धि का ही परिचय देना है।"

६—भगवान् विष्णु का महत्त्व

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ।।
ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।
प्राप्य तत् परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ।।

(शान्ति पर्व २१७।३२–३३)

भीष्म पितामह कहते हैं—"जो सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त अजन्मा, दिव्य एवं अव्यक्त नाम वाले भगवान् विष्णु की भक्ति-भाव से शरण लेते हैं, वे ज्ञानान्द से तृप्त, विशुद्ध और कामना-रहित हो जाते हैं। वे अपने अन्तःकरण में श्री हरि को स्थित जानकर अव्यय स्वरूप हो जाते हैं। उन्हें फिर इस संसार में नहीं आना पड़ता। वे उस अविनाशी और अविकारी परमपद को पाकर परमानन्द में निमग्न हो जाते हैं।"

भविष्यतां वर्ततां च भूतानां चैव भारत ।।
सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ।

(शान्ति पर्व ३४१।३१½)

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"भरतनन्दन ! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में होने वाले समस्त पुरुषों के भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं, अतः सबको सदा उन्हीं की सेवा-पूजा करना चाहिये।"

अजरममरमेकं ध्येयमाद्यन्तशून्यं
सगुणमगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम् ।
निरुपममुपमेयं योगिविज्ञानगम्यं
त्रिभुवनगुरुमीशं सम्प्रपद्यस्व विष्णुम् ।।

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्य प्रति अध्याय १२४)

भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—"जो अजर, अमर, एक (अद्वितीय), ध्येय, अनादि, अनन्त, सगुण, सबके आदि

कारण, स्थूल, अत्यन्त सूक्ष्म, उपमा रहित, उपमा के योग्य तथा योगियों के लिये ज्ञानगम्य हैं, उन त्रिभुवन गुरु भगवान् विष्णु की शरण लो।"

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वं लोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन् नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥

(अनुशासन पर्व १४९।६)

युधिष्ठिर को भीष्मपितामह 'विष्णुसहस्र नाम' का जप सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं—"उस जन्ममृत्यु आदि छः भाव विकारों से रहित, सर्वव्यापक सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर लोकाध्यक्ष देव-विष्णु-की निरन्तर स्तुति करने से मनुष्य सब दुःखों से पार हो जाता है।

एकोविष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।
त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भूङ्क्ते विश्वभुगव्ययः॥

(अनुशासन पर्व १४९।१४०)

"वे समस्त विश्व के भोक्ता और अविनाशी विष्णु ही एक ऐसे हैं, जो अनेक रूपों में विभक्त होकर भिन्न-भिन्न भूत विशेषों के अनेकों रूपों को धारण कर रहे हैं तथा त्रिलोकी में व्याप्त होकर सबको भोग रहे हैं।

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥

(अनुशासन पर्व १४९।१४२)

"जो विश्व के ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करने वाले जन्मरहित कमललोचन भगवान् विष्णु का भजन करते हैं, वे कभी पराभव नहीं पाते हैं।"

७. भगवान् के विभिन्न नामों की व्याख्या

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यम् ।।

(शान्ति पर्व ३४१।४०)

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"नर से उत्पन्न होने के कारण जल को नार कहा गया है। वह नार (जल) पहिले मेरा अयन (निवास स्थान) था; **इसलिये मैं ही 'नारायण' कहलाता हूँ।**

छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ।।

(शान्ति पर्व ३४१।४१)

"मैं ही सूर्य-रूप धारण करके अपनी किरणों से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करता हूं तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों का वास स्थान हूं, इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है।

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत ।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम ।।
अभिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत ।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ।।

(शान्ति पर्व ३४१।४२–४३)

"भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियों की गति और उत्पत्ति का स्थान हूं। पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वी को व्याप्त कर रक्खा है। मेरी कान्ति सबसे बढ़कर है। भरतनन्दन ! समस्त प्राणी अन्तकाल में जिस ब्रह्म को पाने की इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूं। कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूं। इन सभी कारणों से मेरा नाम 'विष्णु' हुआ है।

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥

(शान्तिपर्व ३४१।४५)

"अन्न, वेद, जल और अमृत को 'पृश्नि' कहते हैं। ये सदा मेरे गर्भ में रहते हैं, इसलिये मेरा नाम '**पृश्निगर्भ**' है।

दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह।
दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ॥

(शान्तिपर्व ३४१।४४)

"मनुष्य दम (इन्द्रिय-संयम) के द्वारा सिद्धि पाने की इच्छा करता हुआ मुझे पाना चाहते हैं तथा दम के द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकों में ऊँची स्थिति पाने की अभिलाषा करते हैं, इसलिये मैं '**दामोदर**' कहलाता हूं।

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः।

(शान्तिपर्व ३४१।४८–४९)

"जगत् को तपाने वाले सूर्य की तथा अग्नि और चन्द्रमा की जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब **केश** कहलाती हैं। उस केश से युक्त होने के कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे '**केशव**' कहते हैं।"

———

४—ब्रह्म-ईश्वर-परमात्मा

१. वह एक देशी नहीं है :— *

सर्वतः प्राणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(गीता० १३।१३)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"वह सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है, क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके तत् ॥

(गीता० १३।१५)

"वह चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर रूप भी वही है एवं सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी स्थित वही है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गीता० १८।६१)

"हे अर्जुन! शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।"

---

* हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥
—रामचरितमानस

२. वह सगुण-निर्गुण-सर्वरूप एवं एक है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

(गीता० १३.१४)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।"

शृणुध्वं परमं कारणमस्ति। स एव सर्वं विद्वान् बिभेति न गच्छति। कुत्राहं कस्य नाहं केन केनेत्यवर्तमानो विजानाति। स युगतो व्यापी। स पृथक् स्थितः। तदपरमार्थम्। यथावायुरेकः सन् बहुधेरितः। यथावद् द्विजे मृगे व्याघ्रे च। मनुजे वेणुसंश्रयो भिद्यते वायुरर्थैकः, आत्मा तथासौ परमात्मासावन्य इव भाति। एवमात्मा स एव गच्छति। सर्वमात्मा पश्यञ्शृणोति न जिघ्रति न भाषते।

(शान्तिपर्व दाक्षिणात्य प्रति अध्याय २२२)

सनत्कुमार जी कहते हैं—"सुनिये, वह विश्वरूप परमात्मा सबका परम कारण है। जो उस सर्वस्वरूप परमेश्वर को जानता है, वह न तो भयभ त होता है और न कहीं जाता है। मैं कहाँ हूं, किसका हूं, किसका नहीं हूं, किस-किस साधन से कार्य करता हूं—इत्यादि विचारों में न पड़कर वह परमात्मा को अनुभव करता है। वह परमात्मा युग–युग में व्यापक है। वह जड़ात्मक प्रपंच से अत्यन्त भिन्न रूप में पृथक् स्थित है। उस परमात्मा से भिन्न कोई भी जड़ वस्तु नहीं है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जैसे वायु एक होकर भी अनेक रूपों में

संचरित होता है। पक्षी, मृग, व्याघ्र और मनुष्य में तथा वेणु में यथार्थ रूप से स्थिर होकर एक ही वायु के भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। जो आत्मा है, वही परमात्मा है; परन्तु वह जीवात्मा से भिन्न सा जान पड़ता है। इस प्रकार वह आत्मा ही परमात्मा है। वही जाता है, वह आत्मा ही सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, सभी गन्धों को सूंघता है और सबसे बातचीत करता है।

पतिते वित्त विप्रेन्द्रा भक्षणे चरणे परः।
ऊर्ध्वमेकस्थाधस्तादेकस्तिष्ठति चापरः॥

(शान्ति पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय २२२)

"विप्रवरो ! आप लोगों को गिरते-पड़ते, चलते-फिरते और खाते-पीते प्रत्येक कार्य के समय, ऊपर–नीचे आदि प्रत्येक देश और दिशा में एक मात्र भगवान नारायण सर्वत्र विराज रहे हैं—ऐसा अनुभव करना चाहिये।

नैव धर्मी न चाधर्मी द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
ज्ञानतृप्तः सुखं शेते ह्मृतात्मा न संशय॥

(शान्ति पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय २२२)

"वह अमृतस्वरूप परमात्मा न धर्मी है, न अधर्मी। वह द्वन्द्वों से अतीत और ईर्ष्या-द्वेष से शून्य है। इसमें सन्देह नहीं कि वह ज्ञान से परितृप्त होकर सुखपूर्वक सोता है।

ध्याता द्रष्टा तथा मन्ता बोद्धा दृष्टान् स एव सः।
को विद्वान् परमात्मानमनन्तं लोकभावनम्॥

(शान्ति पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याथ २२२)

"वही ध्यान्, दर्शन, मनन और देखी हुई वस्तुओं का बोध प्राप्त करने वाला है। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति करने वाले उस अनन्त परमात्मा को कौन जान सकता है ?

एको हुताशो बहुधा समिध्यते एकः सूर्यस्तपतो योनिरेका।
एको वायुर्बहुधा वाति लोके महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः।
पुरुषश्चैवको निर्गुणो विश्वरूपस्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशंति ॥
(शान्ति पर्व ३५१–१०)

ब्रह्माजी रुद्र से कहते हैं—"अग्नि एक ही है; परन्तु वह अनेक रूपों में प्रज्वलित एवं प्रकाशित होती है। एक ही सूर्य सारे जगत् को ताप एवं प्रकाश देता है। तप अनेक प्रकार का है; परन्तु उनका मूल एक ही है। एक ही वायु इस जगत् में विविध रूप से प्रवाहित होती है तथा समस्त जलों की उत्पत्ति और लय का स्थान समुद्र भी एक ही है। उसी प्रकार वह निर्गुण विश्व-रूप पुरुष भी एक ही है। इसी निर्गुण पुरुष में सबका लय होता है।

यत् तत्कृत्स्नं लोकतन्त्रस्य धाम वेद्यं परं बोधनीयं स बोद्धा।
मन्ता मन्तव्यं प्राशिता प्राशनीयं घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयं॥
(शान्ति पर्व ३५१–१७)

"जो लोकतन्त्र का सम्पूर्ण धाम या प्रकाशक है, वह परम पुरुष ही वेदनीय (जानने योग्य) परम तत्व है। वही ज्ञाता और वही ज्ञातव्य है। वही मनन करने वाला और वही मननीय वस्तु हैं। वही भोक्ता और वही भोज्य पदार्थ है। वही सूंघने वाला और वही सूंघने योग्य वस्तु है। वही स्पर्श करने वाला तथा वही स्पर्श के योग्य वस्तु है।

द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं ज्ञाता ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च।
यत् वै प्रोक्तं तात सम्यक् प्रधानं नित्यंचैतच्छाश्वतं च व्ययं च॥
(शान्ति पर्व ३५१–१८)

"वही द्रष्टा और द्रष्टव्य है। वही सुनाने वाला और वही सुनाने योग्य वस्तु है। वही ज्ञाता और ज्ञेय है। तात् ! जिसे

सम्यक् प्रधान तत्त्व कहा गया है, वह भी यह पुरुष ही है। यह नित्य सनातन और अविनाशी तत्त्व है।"

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा बहामि॥
(आश्वमेधिक पर्व २६ । १)

ब्राह्मणगीता में ब्राह्मण कहता है—"प्रिये! जगत् का शासक एक ही है, दूसरा नहीं। जो हृदय के भीतर विराजमान है, उस परमात्मा को ही मैं सबका शासक बतला रहा हूं। जैसे पानी ढालू स्थान से नीचे की ओर प्रवाहित होता है, वसे ही उस परमात्मा की प्रेरणा से मैं जिस तरह के कार्य में नियुक्त होता हूं, उसी का पालन करता रहता हूं।"

एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव पराभूता दानवः सर्व एव॥
(आश्वमेधिक पर्व २६ । २)

ब्राह्मणगीता में ब्राह्मण कहता है—"एक ही गुरु है दूसरा नहीं। जो हृदय में स्थित है, उस परमात्मा को ही मैं गुरु बतला रहा हूं। उसी गुरु के अनुशासन से समस्त दानव हार गये हैं।"

एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः सप्तर्षयश्चैव दिवि प्रभान्ति॥
(आश्वमेधिक पर्व २६ । ३)

ब्राह्मणगीता में ब्राह्मण पुनः कहता है—"एक ही बन्धु है, उससे भिन्न दूसरा कोई बन्धु नहीं है। जो हृदय में स्थित है, उस परमात्मा को ही मैं बन्धु कहता हूं। उसी के उपदेश से बान्धवगण बन्धुमान् होते हैं और सप्तर्षि लोग आकाश में प्रकाशित होते हैं।"

एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तस्मिन् गुरौ गुरुवासं निरुष्य शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥

(आश्वमेधिक पर्व २६ । ४)

"एक ही श्रोता है, दूसरा नहीं । जो हृदय में स्थित परमात्मा है, उसी को मैं श्रोता कहता हूं। इन्द्र ने उसी को गुरु मानकर गुरुकुल-वास का नियम पूरा किया अर्थात् शिष्य भाव से वे उस अन्तर्यामी की ही शरण में गये । इससे उन्हें सम्पूर्ण लोकों का साम्राज्य और अमरत्व प्राप्त हुआ ।

एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितोयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके द्विष्टाः पवगाः सर्व एव ॥

(आश्वमेधिक पर्व २६ । ५)

"एक ही शत्रु है, दूसरा नहीं । जो हृदय में स्थित है, उस परमात्मा को ही मैं गुरु बतला रहा हूं । उसी गुरु की प्रेरणा से जगत् के सारे साँप सदा द्वेष भाव से युक्त रहते हैं ।"

स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ॥
स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ॥

(आश्वमेधिक पर्व ४२ । ६२)

ब्रह्माजी महर्षियों से कहते हैं—"वास्तव में वही परमात्मा, विष्णु, मित्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति, धाता, विधाता, प्रभु, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण प्राणियों का हृदय तथा महान् आत्मा के रूप में प्रकाशित है ।"

न तदूर्ध्वं न तिर्यक् च नाधो न च पुनः पुनः ।
न मध्ये प्रतिगृह्णीते नैव किंचित् कुतश्चन ॥
सर्वेऽन्तस्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन ।

(शान्ति पर्व २३९ । २६½)

भवान् वेदव्वासजी अपने पुत्र शुक्रदेवजी से कहते हैं— "वह परमात्मा न ऊपर है न नीचे और न अगल-बगल में अथवा बीच में ही है। कोई भी स्थान विशेष उसको ग्रहण नहीं कर सकता, वह परमात्मा किसी एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसके भीतर ही स्थित हैं, इनका कोई भी भाग या प्रदेश उस परमात्मा से बाहर नहीं है।

तस्मात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नास्ति स्थूलतरं ततः ।।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(शान्ति पर्व २३९। २८-२९)

"उस सूक्ष्म रूप परमात्मा से बढ़कर सूक्ष्मतर वस्तु कोई नहीं है, उससे बढ़कर स्थूलतर वस्तु भी कोई नहीं है। उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं तमृतमक्षरम् ।।

(शान्तिपर्व २३९।३१)

"उस परमात्मा के क्षर और अक्षर ये दो भाव (स्वरूप) हैं, सम्पूर्ण भूतों में तो उसका 'क्षर' (विनाशी) रूप है और दिव्यस्वरूप चेतनात्मा 'अक्षर' (अविनाशी) है।"

न स्त्री पुमान् नापि नपुंसकं च न सन्न चासत् सदसच्च तन्न ।
पश्यन्ति यद् ब्रह्मविदो मनुष्यास्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि ॥

(शान्ति पर्व २०१।२७)

मनुजी बृहस्पति जी से कहते हैं—"वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न सत्, न असत् है और न

सदसत् उभय रूप ही है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार करते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता; इसलिये वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है, इस बात को अच्छी तरह समझलो।

तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धास्तिमृगादिषु।
तद्वत् कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः॥

(शान्ति पर्व २०६।२–३)

"जैसे वही तागा सोने की लडियों में, मोतियों में, मूँगों में और मिट्टी की माला के दानों में ओत-प्रोत होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा गो, अश्व, मनुष्य, हाथी, मृग और कीट-पतङ्ग आदि समस्त शरीरों में व्याप्त है। विषयासक्त जीवात्मा अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है।"

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि सर्वं विश्वं ब्रह्म वैतत् समस्तम्॥

(शान्ति पर्व ३१८।८९)

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं:—"ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सभी वर्ण ब्राह्मण हैं। सभी सदा ब्रह्म का उच्चारण करते हैं। मैं ब्रह्म-बुद्धि से यथार्थ शास्त्र का सिद्धान्त बता रहा हूँ। यह सम्पूर्ण जगत्, यह सारा दृश्य प्रपञ्च, ब्रह्म ही है।

ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः॥

(शान्ति पर्व ३१८।९०)

"ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्म की ही भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई है, ब्रह्म की ही नाभि से वैश्य और पैरों से शुद्र प्रकट हुए हैं, अतः सभी वर्ण के लोग ब्रह्मरूप ही हैं। किसी भी वर्ण को ब्रह्म से भिन्न नहीं समझना चाहिये।"

नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव ।
दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते ।।
ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति यच्च ह ।
ददात्यव्यक्त इत्येतत् प्रतिगृह्णाति तच्च वै ।।

(शान्ति पर्व ३१८।१०२-१०३)

भीष्म पितामह कहते हैं—"विद्वान् पुरुष उस ब्रह्म को नित्य एवं पवित्र बताते हैं, अतः तुम भी उसे जानकर पवित्र हो जाओ। नरश्रेष्ठ ! जो कुछ दिया जाता है, जो दी हुई वस्तु किसी को प्राप्त होती है, जो दान का अनुमोदन करता है, जो देता है तथा जो उस दान को ग्रहण करता है, वह सब अव्यक्त परमात्मा ही है। परमात्मा ही यह सब कुछ देता और लेता है।"

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम् ।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ।।

(शान्तिपर्व ३२६।३२)

जनक जी शुकदेव जी से कहते हैं—"अपने भीतर ही आत्म-ज्योति का प्रकाश है, अन्यत्र नहीं। वह ज्योति सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर समानरूप से स्थित है। अपने चित्त को भली भाँति एकाग्र करने वाला उसको स्वयं देख सकता है।"

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।

(गीता १७।२३)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"ॐ तत् सत्—ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा गया है; उसी ब्रह्म से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादि रचे गये।"

गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम् ।
एतत् तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥

(वन पर्व २१३।३८)

मार्कण्डेय जी धर्मव्याध की उक्ति के रूप में कहते हैं—"जो गुण में रहता हुआ भी गुणों से रहित है, जो सर्वथा सङ्ग से रहित है तथा जो एक मात्र अन्तरात्मा द्वारा ही साध्य है, जिसकी उपलब्धि में अविद्या के सिवा और कोई व्यवधान नहीं है, वही ब्रह्म का अद्वितीय नित्य-सिद्ध पद है और वही (निरतिशय) सुख है।"

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥

(आश्वमेधिक पर्व ३५।३४)

भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माजी की उक्ति के रूप में कहते हैं—"ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है और प्रजापति भी सत्य है। सत्य से ही सम्पूर्ण भूतों का जन्म हुआ है। यह भौतिक जगत् सत्यरूप ही है।"

३. ब्रह्म या ईश्वर-चिन्तन से लाभ—

यदा यदा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तदा तस्य प्रसिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥

(शान्ति पर्व २२६।७)

नमुचि इन्द्र से कहते हैं—"पुरुष जब-जब कल्याण स्वरूप परमात्मा के चिन्तन में मन लगाता है, तब-तब उसके सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है।"

४. भगवान् के अवतार के कारण*

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ४।७-८

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—" हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने को रचता हूं अर्थात् प्रकट होता हूं। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए तथा धर्म-स्थापन करने के लिए [मैं] युग-युग में प्रकट होता हूं।"

५. आत्मा–जीवात्मा+

१. आत्मा निर्विकार एवं अनन्त है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(गीता २।२०)

---

* जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

—रामचरित मानस

+..माया बस्य जीव सचराचर ॥
जो सब के रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी ॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता ॥
मुधा भेद जद्यपि माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥

—रामचरित मानस

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। अर्थात् यह उत्पत्ति, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, क्षय और विनाश—इन छः विकारों से रहित है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

(गीता २।२३)

"इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता।"

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते॥

(शांतिपर्व ३०५।२८)

वशिष्ठ जी राजा जनक से कहते हैं—"आत्मा तो जन्म-मृत्यु से रहित, अनन्त, सबका द्रष्टा और निर्विकार है। वह सत्त्व आदि गुणों में केवल अभिमान करने के कारण ही गुण-स्वरूप कहलाता है।"

निर्विकारः सदैवात्मा स्त्रीत्वं पुंस्त्वं न चात्मनि।
कर्मप्रकारेण तथा जात्यां जात्यां प्रजायते॥
कृत्वा तु पौरुषं कर्म स्त्री पुमानपि जायते।
स्त्रीभावयुक् पुमान् कृत्वा कर्मणा प्रमदा भवेत्॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १४५)

श्री महेश्वर उमा से कहते हैं—"जीवात्मा सदा ही निर्वि-कार है। वह न स्त्री है, न पुरुष। वह कर्म के अनुसार विभिन्न

जातियों में जन्म लेता है। पुरुषोचित कर्म करके स्त्री भी पुरुष हो सकती है और स्त्री भावना से युक्त पुरुष तदनुरूप कर्म करके उस कर्म के अनुसार स्त्री हो सकता है।"

२. आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म का ही रूप है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(गीता १३।२२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीव-रूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा—ऐसा कहा गया है।"

स एव त्वं स एवाहं योऽहं स तु भवानपि।
अहं भवांश्च भूतानि सर्वे यत्र गताः सदा॥

(शान्तिपर्व ३६४।८)

ब्राह्मण नागराज से कहता है—"(आपने सूर्यमण्डल में जिन पुरुषोत्तम नारायण देव की स्थिति बताई है) मैं, आप तथा समस्त प्राणी सदा जिसमें स्थित हैं वही आप हैं, वही मैं हूं और जो मैं हूं, वही आप भी है।"

३. आत्मा प्रकृति के गुणों से परे है—

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः॥
यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति॥

(शान्ति पर्व ३०५।२९-३०)

वशिष्ठ जी राजा जनक से कहते हैं—"गुण तो गुणवान् में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मा में गुण कैसे रह सकते हैं। अतः गुणों के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणों को प्रकृति का कार्य मानकर उनमें अपनेपन का अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदि में आत्म-बुद्धि का परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार करता है।"

४. आत्मा अकर्त्ता और अभोक्ता है, किन्तु अज्ञान के कारण अपने को भिन्न मानता है—

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानीन्द्रियाणि ह।
निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः॥

(शान्तिपर्व ३०३।५०

वशिष्ठजी राजा जनक से कहते हैं—"किन्तु यह जीव वास्तव में इन्द्रियों से रहित है, तो भी यह मानता है कि मैं ही ये सब कर्म करता हूं और मुझ में ही सब इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार यह छिद्रशून्य होकर भी अपने को छिद्रयुक्त मानता है।

अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालः कालमात्मनः।
असत्त्वं सत्त्वमात्मानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः॥

(शान्तिपर्व ३०३।५१)

"वह लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर से हीन होने पर भी अपने को उससे युक्त मानता है। काल-धर्म (मृत्यु) से रहित होकर भी अपने को कालधर्मी (मरणशील) समझता है। सत्त्व से भिन्न होकर भी अपने को सत्त्वरूप मानता है तथा महाभूतादि तत्त्व से रहित होकर भी अपने आपको तत्त्वस्वरूप समझता है।

अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः ।
अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ।।

(आदिपर्व ३०३।५२)

"वह मृत्यु से सर्वथा रहित है, तो भी अपने को मृत्यु-ग्रस्त मानता है। अचर होने पर भी अपने को चलने-फिरने वाला मानता है। क्षेत्र से भिन्न होने पर भी अपने को क्षेत्र मानता है। सृष्टि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होने पर भी सृष्टि को अपनी ही समझता है।

अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः ।
अभवो भवमात्मानमभयो भयमात्मनः ।।
अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ।।

(शान्तिपर्व ३०३।५३–५४)

"वह कभी तप नहीं करता तो भी अपने को तपस्वी मानता है। कहीं गमन नहीं करता तो भी अपने को आने-जाने वाला समझता है। संसार-रहित होकर भी अपने को संसारी और निर्भय होकर भी अपने को भयभीत मानता है। यद्यपि वह अक्षर (अविनाशी) है, तो भी अपने को क्षर (नाशवान्) समझता है तथा बुद्धि से परे होने पर भी बुद्धिमत्ता का अभिमान रखता है।"

५. आत्मा ही अपना मित्र और वह ही शत्रु है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।

(गीता ६।५-६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले; यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों-सहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया, उसके लिये वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में वर्तता है।"

६. जीवात्मा अकेला ही आता-जाता और सुख-दुख भोगता है—

एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति ॥
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम् ।
असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतोगुरुः ॥
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्र वर्गस्तथैव च ।

(अनुशासन पर्व १११।११-१२½)

बृहस्पति जी युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन् ! प्राणी अकेला ही जन्म लेता, अकेला ही मरता, अकेला ही दुःख से पार होता तथा अकेला ही दुर्गति भोगता है। पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, जाति, सम्बन्धी तथा मित्रवर्ग—ये कोई भी उसके सहायक नहीं होते।

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति ॥
तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः ।

(अनुशासन पर्व १११।१४½)

"वे कुटुम्बीजन तो उसके शरीर का परित्याग करके चले जाते हैं, किन्तु एक मात्र धर्म ही उस जीवात्मा का अनुसरण करता है, इसलिये धर्म ही सच्चा सहायक है। अतः मनुष्यों को सदा धर्म का ही सेवन करना चाहिये।

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः ॥
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पार लौकिकः ।
(अनुशासन पर्व १११।१६½)

"इसलिए विद्वान् पुरुष को चाहिये कि न्याय से प्राप्त हुए धन के द्वारा धर्म का अनुष्ठान करे। एकमात्र धर्म ही पर-लोक में मनुष्यों का सहायक है।"

---

६. संसार रूपी नदी का वर्णन एवं उससे पार होने के उपाय

सर्वतः स्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम् ।
पञ्चेन्द्रिय ग्राहवतीं मनः संकल्परोधसम् ॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् ।
सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्का सरिद्वराम् ॥
अव्यक्त प्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
प्रतरस्व नदीं बुद्धया कामग्राहसमाकुलम् ॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् ।
आत्म कर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम् ॥
(शान्ति पर्व २५०।१२-१५)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"यह संसार एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोक में प्रवाहित हो रही है। इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओं की ओर बहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके भीतर पाँच ग्राहों के समान हैं। मन के संकल्प ही इसके किनारे हैं। लोभ और मोहरूपी घास और सेवार से यह ढकी हुई है। काम और क्रोध इसमें सर्प के समान निवास करते हैं। सत्य

इसका घाट है, मिथ्या इसकी हलचल है। क्रोध ही कीचड़ है। यह नदी दूसरी नदियों से श्रेष्ठ है। यह अव्यक्त प्रकृति रूपी पर्वत से प्रकट हुई है। इसके जल का वेग बड़ा प्रखर है। अजितात्मा पुरुषों के लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें काम रूप ग्राह सब ओर भरे हैं। यह नदी संसार सागर में मिली है। वासना रूपी गहरे गड्ढों के कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। तात ! **यह अपने कर्मों से ही उत्पन्न हुई है।** जिह्वा भँवर है तथा इस नदी को लांघना दुष्कर है। **तुम अपनी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा इस नदी को पार कर जाओ।"**

नद्यां चेह यथा काष्ठमुह्यमानं यदृच्छया।
यदृच्छयैव काष्ठेन सन्धि गच्छेत केनचित्॥
तत्रापराणि दारूणि संसृज्यन्ते परस्परम्।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्न समीक्षया॥

(शान्तिपर्व २६२।२२-२३)

तुलाधार जाजलि से कहते हैं—"जैसे यहाँ नदी की धार में दैवेच्छा से बहता हुआ काठ अकस्मात् किसी दूसरे काठ से संयुक्त हो जाता है; फिर वहाँ दूसरे-दूसरे काष्ठ, तिनके छोटी-छोटी लकड़ियाँ और सूखे गोबर भी आकर एक दूसरे से जुड़ जाते हैं, परन्तु इन सब का वह संयोग आकस्मिक ही होता है, समझ-बूझ कर नहीं (इसी प्रकार संसार के प्राणियों के भी परस्पर संयोग-वियोग होते रहते हैं)।"

रूपकूलां मनः स्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम्।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम्॥
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम्।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत्॥

(शान्तिपर्व ३२९।३८-३९)

नारदजी कहते हैं—"यह संसार एक नदी के समान है, जिसका उपादान या उद्गम सत्य है। रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है। गन्ध उस नदी की कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौका की सहायता से उसे पार किया जा सकता है ❀। क्षमा इसको खेने वाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर रखने वाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्याग रूपी अनुकूल पवन का सहारा मिले तो इस शीघ्र-गामिनी नदी को पार किया जा सकता है। इसे पार करने का अवश्य प्रबन्ध करे।"

---

७. ब्रह्म अथवा मुक्ति-प्राप्ति के साधन

महाभारतकार ने ब्रह्म अथवा मुक्ति प्राप्ति के निम्न विभिन्न साधन, विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों के लिए बतलाये हैं (इनका आगे सविस्तार वर्णन किया गया है)। इनमें से एक-आध को अपना करके भी मानव परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है :—

❀ भगवान् श्रीराम मानव शरीर का महत्त्व बताते हुए कहते हैं :—

बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥

दो० –सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

—रामचरितमानस

१. समत्व दृष्टि अथवा ब्रह्म दृष्टि:—

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(आदि पर्व ७५।५३)

ययाति कहते हैं—"जब सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टि हो जाने के कारण यह पुरुष किसी से नहीं डरता और जब उससे भी दूसरे प्राणी नहीं डरते तथा जब वह न किसी की इच्छा करता है और न किसी से द्वेष ही रखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।"

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(शान्ति पर्व १७।२३)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"जब पुरुष प्राणियों की पृथक्-पृथक् सत्ता को एकमात्र परमात्मा में ही स्थित देखता है और उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है।"

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(शान्ति पर्व २१।५)

देवस्थान मुनि युधिष्ठिर जी से कहते हैं—"जब वह मन, वाणी और क्रिया द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में से किसी के साथ न तो द्रोह करता है और न किसी की अभिलाषा ही रखता है, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।"

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमाश्रितम्।
योऽनुपश्यति स प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥

(शान्ति पर्व २३९।१८)

व्यासजी शुकदेव जी से कहते हैं—"जो इस विनाश-शील समस्त शरीरों में अव्यक्त भाव से स्थित परमेश्वर का ज्ञानमयी दृष्टि से निरन्तर दर्शन करता रहता है, वह मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म-भाव को प्राप्त होने में समर्थ हो जाता है।

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(शान्ति पर्व २३९।१९)

"पण्डितजन विद्या और उत्तम कुल से सम्पन्न ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी सम भाव से स्थित ब्रह्म का दर्शन करने वाले होते हैं।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा।
यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(शान्ति पर्व २३९।२१-२२)

"जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में अपने को और अपने में सम्पूर्ण प्राणियों को स्थिर देखता है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। अपने शरीर के भीतर जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वैसा ही दूसरों के शरीर में भी है, जिस पुरुष को निरंतर ऐसा ज्ञान बना रहता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होने में समर्थ है।

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्व भूतेषु चाप्ययम्।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(शान्ति पर्व ३२६।३६)

जनकजी शुकदेव जी से कहते हैं—"जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थों में तथा सम्पूर्ण प्राणियों में

समान भाव वाला होता है एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।"

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(शान्ति पर्व २००।१०१)

मार्कण्डेय मुनि कहते हैं—"जो निरन्तर घर पर रहकर भी पवित्र भाव से रहता है, सद्गुणों से विभूषित होता है और जीवन भर सब प्राणियों पर दया रखता है, उसे मुनि ही समझना चाहिये; वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्माऽऽत्मनो हृदि।
स्वयंज्योतिस्तदा सूक्ष्मात् सूक्ष्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥
(आश्वमेधिक पर्व ४२।५०)

ब्रह्माजी महर्षियों से कहते हैं—"जिस समय योगी प्रसन्नचित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों को अपने अन्तःकरण में स्थित देखने लगता है, उस समय वह स्वयं ज्योतिःस्वरूप होकर सूक्ष्म से सूक्ष्म सर्वोत्तम परमात्मा को प्राप्त होता है।"

तद्बुद्धयस्तदात्मनस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
(गीता ५।१७)

भगवान् कृष्ण कहते हैं—"जिनका मन तद्रूप (ईश्वरमय) हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही जिनकी निरन्तर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परम गति को प्राप्त होते हैं।'

२. सर्वहितकारी प्रवृत्ति या परोपकार की भावना से कार्य करना※

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।

(शान्ति पर्व १७४।५४)

भीष्मजी कहते हैं—"जब धैर्य-सम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणी के प्रति मन, वाणी और क्रिया द्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है।"

सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ।।

(शान्ति पर्व २३९।२३)

व्यासजी शुकदेव जी से कहते हैं—"जो सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा होकर सब प्राणियों के हित में लगा हुआ है, जिसका अपना कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है तथा जो ब्रह्मपद को प्राप्त करना चाहता है, उस समर्थ ज्ञानयोगी के मार्ग की खोज करने में देवता भी मोहित हो जाते हैं।

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो ह्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

(शान्ति पर्व २४५।२२)

※सर्वहितकारी प्रवृत्ति, संशयरहित बुद्धि, सरलता, सत्संगति, जितेन्द्रियता––ये सबके सब भक्तियोगी और ध्यानयोगी के लिए भी परमावश्यक हैं और स्वतन्त्र रूप से भी मुक्ति प्राप्ति के उपाय हैं।

१. परहित सरिस धर्म नहीं भाई । पर पीड़ा सम नाहीं अधमाई ।।
—रामचरित मानस

"जिसका जीवन धर्म के लिए और धर्म भगवान् श्रीहरि के लिए होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालन में ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं।"

३. कर्मयोग अथवा निष्काम भाव से कर्तव्य-पालन

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।"

असक्तः सक्तवद् गच्छन् निः सङ्गो मुक्तबन्धनः।
समो शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते॥

(शान्ति पर्व १८।३१)

अर्जुन युधिष्ठिर को संन्यास ग्रहण करने से रोकते हुए कहते हैं—"पृथ्वीनाथ! जो आसक्तिरहित होकर आसक्त की भांति विचरता है, जो संगरहित एवं सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ चुका है तथा शत्रु और मित्र में जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त ही है।"

कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः।
सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(आश्वमेधिक पर्व ४२।४७)

ब्रह्माजी कहते हैं—"जो कामनाओं को अपने भीतर लीन करके तृष्णा से रहित, एकाग्रचित्त तथा सम्पूर्ण प्राणियों

का सुहृद् और मित्र होता है वह ब्रह्म प्राप्ति का पात्र हो जाता है।

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

(आश्वमेधिक पर्व ४७।८)

"जो किसी वस्तु की कामना तथा किसी की अवहेलना नहीं करता, वह इस लोक में रहकर भी ब्रह्मस्वरूप होने में समर्थ हो जाता है।"

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः।।

(शान्ति पर्व २०५।७)

मनु बृहस्पतिजी से कहते हैं—"जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों को छोड़ देता है, अर्थात् जो सुख दुःख की भावना से रहित होकर कार्य करता है) वह अक्षयब्रह्म को प्राप्त होता है, अतः वे ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं।"

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च।।
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम्।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।

(शान्ति पर्व ३२६।३७-३८)

जनक शुकदेवजी से कहते हैं—"जिस समय मनुष्य निंदा और स्तुति को समानभाव से समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरण में भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

४. संशय रहित विशुद्ध-बुद्धिः-

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ॥

(शान्ति पर्व ३२६।४६)

जनकजी कहते हैं—"मेरे (जनक जैसे सद्गुरु) के द्वारा जिनका संशय नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चय के द्वारा हृदय की गाँठें खोलकर उस परम गति को प्राप्त कर लेता है।

तमः परिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम् ॥

(शान्ति पर्व ३२६।४०)

जैसे अन्धकार से आच्छादित घर दीपक के प्रकाश से देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकार से आवृत्त हुए आत्मा का विशुद्ध बुद्धि रूपी दीपक द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है।"

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(गीता ४–४०)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक और न सुख ही है।"

५. सरलता–

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

(शान्ति पर्व ७९–२१)

भीष्म जी कहते हैं—"सारी कुटिलता मृत्यु का स्थान है और सरलता पर ब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है। इतना ही ज्ञान का विषय है और सब प्रलापमात्र है, वह किस काम आवेगा ?"

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरोधर्मेण युज्यते।।

(अनुशासन पर्व १४२।३०)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—"सरलता को धर्म कहते हैं और कुटिलता को अधर्म। सरल भाव से युक्त मनुष्य ही यहां धर्म के फल का भागी होता है।"

६. सत्संगति–

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे।।

(शान्ति पर्व २९३।५)

पराशरजी कहते हैं—"श्वेत वस्त्र को जैसे रंग में रंगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा संग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है। यह बात मुझसे अच्छी तरह समझ लो।"

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्यः उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।

(गीता १३। २५)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हैं दूसरों से अर्थात् तत्व के जानने वाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवण-परायण पुरुष भी मृत्यु-रूप संसार सागर को निःसन्देह तर जाते हैं।"

७. जितेन्द्रियता–

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।
परं तत् सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ।।

(शान्ति पर्व २१४।७)

भीष्मजी कहते हैं—"यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे तो शास्त्रों में ब्रह्म का स्वरूप ही बतलाया गया है। यह सब धर्मों में श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।"

८. ध्यानयोग–

विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान् ।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ।।

(शान्ति पर्व ३०६।२०)

वशिष्ठजी जनकजी से कहते हैं—"ध्यान-निष्ठ योगी को अपने हृदय में उसी प्रकार परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है जैसे धूमरहित अग्नि का, किरणमालाओं से मण्डित सूर्य का तथा आकाश में विद्युत् के प्रकाश का दर्शन होता है।"

९. भक्तियोग–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

(गीता १८।६६)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को मुझमें त्याग कर और तू केवल एक मुझ सर्व शक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आजा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर।"

भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ॥
(शान्ति पर्व २००।२३)

ब्रह्माजी जापक का स्वागत करके कहते हैं—"विप्रवर ! योगियों को जो फल मिलता है, निस्सन्देह वही फल जप करने वालों को भी प्राप्त होता है।"

१०. संन्यासी और गृहस्थ्य दोनों समान रूप से मुक्ति के अधिकारी हैं–

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥
त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्य हेतौ परिग्रहे ॥
(शान्ति पर्व ३२०।४१–४२)

जनकजी गुरु पञ्चशिख द्वारा बताये उपदेश को कहते हैं—"यम, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ तथा स्नेह करके उनसे होने वाले लाभ और हानि में सन्यासी भी गृहस्थों के तुल्य हैं। अर्थात् यम–नियम आदि का अभ्यास करने पर गृहस्थ भी मोक्ष लाभ कर सकते हैं और कामना तथा द्वेष होने पर संन्यासी भी मुक्ति से वञ्चित हो सकते हैं। संन्यासी त्रिदण्ड आदि धारण करते हैं और गृहस्थ नरेश छत्र - चँवर आदि। यदि त्रिदण्ड धारण करने पर किसी को ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता हैं तो छत्र आदि धारण करने पर दूसरे को उसी ज्ञान के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त नहीं हो सकता ? क्योंकि प्रतिबन्ध का कारण परिग्रह दोनों के लिए समान है। एक त्रिदण्ड आदि का संग्रह करता है और दूसरा छत्र आदि का।

आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम् ।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥

(शान्ति पर्व ३२०।५०)

"न तो अकिञ्चनता (दरिद्रता) में मोक्ष है और न किञ्चनता (आवश्यक वस्तुओं के सम्पन्न होने) में बन्धन ही है। धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

जायन्ते च म्रियन्ते च यास्मिन्नेते यतश्च्युताः ।
वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम ॥

(शान्ति पर्व ३१८।४९)

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—"गन्धर्वराज ! समस्त भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे उत्पन्न होते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, उस वेद प्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्मा को जो नहीं जानते हैं, वे परमार्थ से भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते हैं। (चाहे वे सन्यासी हों या गृहस्थ)।"

---

८. काल (मृत्यु, अवसर)

१. काल ईश्वर रूप है—

सत्त्वेषु लिङ्गमावेश्य निर्लिङ्गमपि तत् स्वयम् ।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः ॥

(शान्ति पर्व २२४।४९)

बलि इन्द्र से कहते हैं—"जो लोग तत्त्वदर्शी हैं, वे निश्चित रूप से ऐसा मानते हैं कि वह काल रूप ब्रह्म स्वयं निराकार होते हुए भी समस्त प्राणियों के भीतर जीव का प्रवेश कराता है।

नाहं कर्त्ता न चैव त्वं नान्यं कर्त्ता शचीपते ।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया ।।

(शान्ति पर्व २२४।४५)

"शचिपति इन्द्र ! न मैं कर्त्ता हूं, न तुम कर्त्ता हो और न कोई दूसरा ही कर्त्ता है। काल बारी-बारी से अपनी इच्छा के अनुसार सम्पूर्ण लोकों का उपभोग करता है।"

२. काल किसी का इन्तजार नहीं करता—

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥

(शान्ति पर्व २७७:१२-१३)

भीष्मजी पिता की पुत्र के प्रति उक्ति बताते हैं—"जैसे मनुष्य फूल चुन रहा हो, उसी बीच में कोई हिंसक जीव उस पर आक्रमण करदे; उसी प्रकार जब मनुष्य का मन दूसरी ओर (विषय भोगों में) लगा होता है, उसी समय उसकी इच्छा पूर्ण होने से पहिले ही सहसा मौत आकर उसे दबोच लेती है। इसलिये जिस काम को कल करना हो, उसे आज ही करले। जिसे अपराह्ण में करना हो, उसे पूर्वाह्ण में ही कर डाले; क्योंकि मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि किसका काम पूरा हो गया या नहीं।

अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादानिमित्तं हि जीवितम् ।।

(शान्ति पर्व २७७।१५)

"सारे काम अधूरे ही रह जाते हैं और मौत अपनी ओर खींच लेती है, इसलिये युवावस्था में ही मनुष्य को धर्म का

आचरण करना चाहिये, क्योंकि जीवन का कुछ ठिकाना नहीं है।

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चाभ्येति देहिनम्।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः॥

(शान्तिपर्व २७७।२३)

"मनुष्य के जन्म लेते ही उसका अन्त कर डालने के लिये अन्तक (यमराज) उसके पीछे लग जाता है और बुढापा भी देहधारी के पास आता ही है। समस्त चराचर पदार्थ इन दोनों से बंधे हुए हैं।"

नेह ध्रुवं किंचन जातु विद्यते लोके ह्यस्मिन् कर्मणोऽनित्ययोगात्।
सूर्योदये को हि विमुक्तसंशयो भावं कुर्वीतार्य महाव्रते हते॥

(द्रोण पर्व २।६)

कर्ण कहता है—'निश्चय ही इस संसार में कर्मों के अनित्य सम्बन्ध से कभी कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती है। श्रेष्ठ एव महान् व्रतधारी भीष्म जी के मारे जाने पर कौन संशय रहित होकर कह सकता है कि कल सूर्योदय होगा ही।' (अर्थात् जीवन अनित्य होने के कारण हममें से कौन कल का सूर्य देख सकेगा, यह कहना कठिन है, अतः मनुष्य को जो कुछ धर्माचरण करना हो तुरन्त कर डालना चाहिये)।

यो हि कालो व्यतिक्रामेत पुरुषं कालकाङ्क्षिणम्।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा॥

(शान्तिपर्व १०३।२१)

बृहस्पति जी कहते हैं—"समय की प्रतीक्षा करने वाले पुरुष के लिये जो उपयुक्त अवसर आकर भी चला जाता है, वह अभीष्ट कार्य करने की इच्छा वाले उस पुरुष के लिये फिर दुर्लभ हो जाता है।"

३. उपयुक्त काल में ही प्रत्येक कार्य फल देता है—*

नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः ।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ।।

(शान्ति पर्व २५।११)

व्यासजी कहते हैं—"बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमय में बोलता ही है। बिना समय के जवानी भी नहीं आती और बिना समय के बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है।"

नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति ।
नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली ।।

(शान्तिपर्व २५।१२)

"असमय में सूर्य उदयाचल से संयुक्त नहीं होते हैं, समय आये बिना वे अस्ताचल पर भी नहीं जाते हैं, असमय में न तो चन्द्रमा घटते-बढ़ते हैं और न समुद्र में ही ऊँची-ऊँची तरंगे उठती हैं।"

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ।।

(शान्तिपर्व १३८।९५)

---

* १–लाभ समय को पालिबो, हानि समय की चूक ।
सदा विचारहि चारु मति सुदिन कुदिन दिन दूक ।।

—दोहावली

२–'का बरषा जब कृषी सुखाने । समय चुके पुनि का पछिताने ।।
३–समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते ।'
४–भानु कमल कुल पोषनिहारा ।
बिनु जल जारि करइ सोइ छारा ।।

—रामचरित मानस

भीष्म जी कहते हैं—"वेमौके शुरू किया हुआ काम करने वाले को लाभदायक नहीं होता है और वही उपयुक्त समय पर आरम्भ किया जाय तो महान् अर्थ का साधक होजाता है।"

---

९. प्रारब्ध (दैव) और पुरुषार्थ

१. दैव की प्रबलता— ※

बहवः सम्प्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः।
महत्त्वफल वैषम्यं दृश्यते कर्मसन्धिषु॥

(वनपर्व २०९।२१)

धर्मव्याध कौशिक मुनि से कहते हैं—"बहुत से ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं, जिनका जन्म एक ही नक्षत्र में हुआ है और जिनके लिये मंगल कृत्य भी समान रूप से ही किये गये हैं, परन्तु विभिन्न प्रकार के कर्मों का संग्रह (प्रारब्ध) होने के कारण उन्हें प्राप्त होने वाले फल में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है।"

कल्याणी रूप सम्पन्ना दुर्भगा शक्र दृश्यते।
अलक्षणा विरूपा च सुभगा दृश्यते परा॥

(शान्ति पर्व २२४।३४)

※ दैव की प्रबलता बताते हुए 'रामचरित मानस' में कहा गया है—

(१) होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढावै साखा॥

(२) जीव करम बस सुख दुख भागी।

(३) बूवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा।

(४) सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु विधि हाथ॥

बलि इन्द्रदेव से कहते हैं—"शक्र ! एक कल्याणमय आचार-विचार रखने वाली रूपवती युवती विधवा हुई देखी जाती है और दूसरी कुरूपा स्त्री सौभाग्यशालिनी दिखाई देती है।"

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात् ।।

(उद्योग पर्व ३२।१३)

सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं—"महाराज ! सूत में बंधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरों से प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्मा की प्रेरणा से ही प्रत्येक कार्य के लिये चेष्टा करता है। पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के इस कष्ट को देखकर मैं यह मानने लगा हूं कि मनुष्य के पुरुषार्थ की अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है।"

सुमंत्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम् ।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनापि विरुध्यते ।।

(उद्योग पर्व ७७।८)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"अच्छी तरह विचार पूर्वक निश्चित किए हुए, उत्तम नीति से युक्त तथा न्यायपूर्वक सम्पादित किये हुए मानव-सम्बन्धी पुरुषार्थ-साध्य कर्म भी कभी दैववश बाधित हो जाते हैं—उनकी सिद्धि में विघ्न पड़ जाता है।"

अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ।।

(शान्ति पर्व १७४।६१)

पिंगला कहती है—"भाग्य से अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मों के प्रभाव से कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप (लाभदायक) हो

जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं (पिंगला वेश्या) उत्तम-ज्ञान से सम्पन्न हो गई हूँ। अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूं।"

२. मनुष्य की बुद्धि भी दैवाधीन हो जाती है— *

> **दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत्।**
> **धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः॥**

(सभा पर्व ५८।१८)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"जैसे उत्कृष्ट तेज सामने आने पर आँख की ज्योति को हर लेता है, उसी प्रकार दैव मनुष्य की बुद्धि को हर लेता है। दैव से ही प्रेरित होकर मनुष्य रस्सी में बँधे हुए की भाँति विधाता के वश में घूमता रहता है।"

> **न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः।**
> **विधिपर्यागतानर्थान् प्राज्ञो न प्रतिपद्यते॥**

(आदि पर्व ११७।१०)

मृगरूप धारी मुनि पाण्डु से कहता है—"बुद्धि प्रारब्ध को नहीं ग्रसती (नहीं लांघ सकती), प्रारब्ध ही बुद्धि को अपना ग्रास बना लेता है (भ्रष्ट कर देता है)। प्रारब्ध से प्राप्त होने वाले पदार्थों को बुद्धिमान् पुरुष भी नहीं जान सकता।"

---

* 'जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही साधन जुट जाते हैं'—इस सम्बन्ध में मानसकार कहते हैं :—

> **तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलइ सहाइ।**
> **आपुन आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥**

३. दैव भी पापी की रक्षा नहीं कर सकता—

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ।।

(अनुशासन पर्व ६।४२)

भीष्मजी कहते हैं—"संसार में समस्त सुदुर्लभ सुख-भोग किसी पापी को प्राप्त हो जाँय तो भी वह उसके पास टिकता नहीं, शीघ्र ही उसे छोड़ कर चल देता है। जो मनुष्य लोभ और मोह में डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकट से नहीं बचा सकता।"

४. दैव को भी पुरुषार्थ द्वारा बदला जा सकता है—

दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते ।
शीतमुष्ण तथावर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ।।

(उद्योग पर्व ७७।९)

श्री कृष्णजी कहते हैं--"दैव-कृत कार्य भी समाप्त होने से पहले पुरुषार्थ द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। जैसे शीत का निवारण वस्त्र से, गर्मी का व्यजन (पंखे) से, वर्षा का छत्ते से और भूख-प्यास का अन्न और जल से।"

कृतं चाप्यकृतं किंचित कृते कर्माणि सिद्धयति ।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ।।

(अनुशासन पर्व ६।२८)

भीष्मजी कहते हैं—"प्रबल पुरुषार्थ करने से पहिले का किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है। इस तरह पुण्य या पाप कर्म अपने यथार्थ फल को नहीं दे पाते हैं।"

५. दैव भी पुरुषार्थ के द्वारा ही सफल होता है—

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
नदैवमकृते किंचित् कस्याचिद् दातुमर्हति ।।

(अनुशासन पर्व ६।२२)

भीष्मजी कहते हैं—"किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है, परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता ।

न च फलति विकर्मा जीव लोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम् ।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ।।

(अनुशासन पर्व ६।४७)

"इस जीव-जगत् में उद्योग-हीन मनुष्य कभी फूलता-फलता नहीं दिखाई देता। दैव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग में लगा दे । जैसे शिष्य गुरु को आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थ को ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव को जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है ।

यथाग्निः हवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ।।

(अनुशासन पर्व ६।४३)

"जैसे थोड़ी सी भी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है ।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ।।
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्धयते ।।

(अनुशासन पर्व ६।७–८)

"जैसे बीज खेत में बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थ के बिना नहीं सिद्ध होता। पुरुषार्थ खेत है और दैव को बीज बताया गया है। खेत और बीज के संयोग से ही अनाज पैदा होता है।"

दैवं पुरुषकारश्च स्थिततावन्योन्यसंश्रयात् ।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीबा उपासते ।। +

(शान्ति पर्व १३९।८२)

पूजनी चिडिया राजा ब्रह्मदत्त से कहती है—"दैव और पुरुषार्थ दोनों एक दूसरे के सहारे रहते हैं, परन्तु उदार विचार वाले पुरुष सर्वदा शुभ कर्म करते हैं और नपुंसक दैव के भरोसे बैठा रहता है।"

६. पुरुषार्थ हीन व्यक्ति सदैव दुःखी रहता है—

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निः संशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपश्नुते ।।

(वन पर्व ३२।४२)

द्रौपदी कहती हैं—"जो मनुष्य आलस्य के वश में पड़कर सोता रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्य कुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्य का उपभोग करता है।"

+ कादर मन कहुँ एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ।।
—रामचरित मानस

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥

(अनुशासन पर्व ६।१५)

भीष्मजी कहते हैं—"जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तमकुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर सकते।"

७. कौन सदा सुखी है—

न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया ।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम् ॥

(शान्ति पर्व १७९।२४)

अवधूत मुनि प्रह्लाद जी से कहते हैं—"यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य-पदार्थ प्राप्त हो जाय तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूं और प्राप्त न होने पर किसी दुर्लभ भोग की कभी इच्छा नहीं करता।"❀

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत ।
निर्वेदो नात्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ॥

(वन पर्व ३२।५०)

द्रौपदी कहती हैं—"भारत ! पुरुषार्थ करने पर भी यदि अपने को सिद्धि न मिले तो इससे मन ही मन खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि फल की सिद्धि में पुरुषार्थ के सिवा दो और भी कारण है—**प्रारब्ध और ईश्वर कृपा।**"

❀ **सन्तोषं परमं सुखं ।** —अज्ञात

अनागतं यन्न ममेति विद्यादतिक्रातं यन्न ममेति विद्यात् ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानास्ते पण्डितास्तत्सतां स्थानमाहुः ॥

(शान्ति पर्व १०४-२२)

कालकवृक्षीय मुनि कहते हैं—"जो वस्तु भविष्य में मिलने वाली है, उसे यही माने कि 'वह मेरी नहीं है' तथा जो मिलकर नष्ट हो चुकी हो, उसके विषय में भी यही भाव रक्खे कि 'वह मेरी नहीं थी'। जो ऐसा मानते हैं कि 'प्रारब्ध' ही सबसे प्रबल है, वे ही विद्वान् हैं और उन्हें सत्पुरुषों का आश्रय कहा गया है।"

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम् ।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥

(शान्ति पर्व ३३०।२५)

नारदजी शुकदेवजी से कहते हैं—"तथापि सबको दुःख से छूटने का उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़ कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसन में आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखों से मुक्त हो जाता है।"

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति कर्मसु ॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।

(उद्योग पर्व १३५।२९)

विदुला अपने पुत्र से कहती है—"सफलता होगी ही, ऐसा मन में दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने वाले कर्मों में लग जाना चाहिये।"

---

१०. जय (विजय)

१. उपाय—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥
(उद्योग पर्व ३९।७२)

विदुरजी कहते हैं—"अक्रोध से क्रोध को जीते, असाधु को सद् व्यवहार से जीते, कृपण को दान से और झूठ पर सत्य से विजय प्राप्त करे ।"

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥
(शान्ति पर्व ८१ । २१)

नारद जी कहते हैं—"श्रीकृष्ण ! अपनी शक्ति के अनुसार सदा अन्न दान करना, सहन-शीलता, सरलता, कोमलता तथा यथा योग्य पूजन (आदर सत्कार) करना—यही बिना लोहे का बना हुआ शस्त्र है ।"

२. न्याय, धर्म और शक्ति के समन्वय से ही जय होती है—

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्रह्रीः श्रीस्तथा मतिः ।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥
(भीष्म पर्व २३।२८)

दुर्गादेवी कहती हैं—"जहां न्यायोचित् बर्ताव, तेज और कान्ति है, जहां ह्री, श्री और बुद्धि है तथा जहां धर्म विद्यमान है, वहीं श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ।"

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्री विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिम ।।

(गीता १८।७८)

संजय कहते हैं—"जहां योगेश्वर कृष्ण (अनुभव सिद्ध शुद्धज्ञान) और जहां धनुष-धारी पार्थ (तदनुसारिणी क्रिया) हैं, वहीं श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।"

३. हिंसा द्वारा प्राप्त विजय का उपभोग अधिक काल तक नहीं हो सकता—

येषामर्थाय पापं स्याद् विजयस्य सुहृद्वधैः ।
निर्जितैरप्रमत्तैर्हि विजिता जितकाशिनः ।।

(सौप्तिक पर्व १०।१४)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"जिन्हें विजय के लिए सुहृदों के वध का पाप करना पड़ता है, वे एक बार विजय लक्ष्मी से उल्लसित भले ही हो जाँय, परन्तु पराजित होकर सतत् सावधान रहने वाले शत्रुओं के हाथ से उन्हें पराजित होना ही पड़ता है।"

४. शान्ति प्राप्ति का उपाय—

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ।।
सुखं प्रशान्तः स्वपिति हित्वा जयपराजयो ।

(उद्योगपर्व ७२।५९)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—विजय की प्राप्ति भी चिर-स्थायी शत्रुता की सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःख से समय बिताता है। जो किसी से शत्रुता न रखकर शांति का आश्रय लेता है, वह जय-पराजय की चिन्ता छोड़कर सुख से सोता है।"

---

११. सिद्धि अथवा सफलता

१. साधन—*

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः।
लोकतन्त्रविधानामेष पञ्चविधो विधिः॥

(वन पर्व १६२।१)

कुबेरजी कहते हैं—'युधिष्ठिर ! धैर्य, दक्षता, देश, काल और पराक्रम—ये पांच लौकिक कार्यों की सिद्धि के हेतु हैं।"

---

*सिद्धि अथवा सफलता प्राप्ति का साधन 'एकाग्रता' और विपत्ति के समय 'धैर्य न छोड़ना' बताया गया है—इस सम्बन्ध में निम्न दो कथायें महाभारत में आयी हैं—

१. एकाग्रता

जब कुरु वंशी राजकुमारों की शिक्षा समाप्त हो गयी, तो एक दिन गुरु द्रोणाचार्यजी ने अपने शिष्यों की परीक्षा लेने का विचार किया। उन्होंने एक नकली पक्षी (गीध) बनवाकर एक वृक्ष के अग्र भाग पर रखवा दिया। फिर आचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि, "देखो, तुम सब लोग इस पक्षी के सिर को बींधने के लिए तैयार खड़े हो जाओ। हम एक-एक को निशाना लगाने की आज्ञा देंगे, आज्ञा पाते ही तुम लोग इस पक्षी के सिर को बाण से छेद देना।"

सर्व प्रथम उन्होंने युधिष्ठिर को बुलाया और पूछा—'क्या तुम इस पक्षी को, इस वृक्ष को, मुझको अथवा अपने भाइयों को भी देखते हो ?'

युधिष्ठिर ने कहा—'हाँ, भगवन् ! मैं इस पक्षी को, वृक्ष को, आपको और अपने भाइयों को भी देखता हूँ।'

आगे भी देखिये)

परीक्ष्यकारी युक्तश्च स सम्यगुपपादयेत् ।
देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात् ॥

(शान्ति पर्व १३७।२४)

भीष्मजी कहते हैं—'जो पुरुष सोच-समझकर या जान-बूझकर काम करने वाला तथा सतत सावधान रहने वाला है, वह अभीष्ट देश और काल का ठीक-ठीक उपयोग करता और उनके सहयोग से इच्छानुसार फल प्राप्त कर लेना है।'

द्रोणाचार्यजी ने उन्हें झिड़क कर हटा दिया और फिर उन्होंने इसी प्रकार एक-एक करके दुर्योधनादि सभी को बुलाकर इसी प्रकार प्रश्न पूछे। सब ने युधिष्ठिर के समान ही उत्तर दिये। अन्त में उन्होंने अपने प्यारे शिष्य अर्जुन को बुलाया और उससे भी उसी प्रकार प्रश्न पूछे।

अर्जुन ने उत्तर दिया—'भगवन्! मुझे सिर्फ इस पक्षी का सिर दिखाई दे रहा है, न पेड़ दिखता है, न आप दिख पड़ते हैं और न और कोई ही दिखाई देता है।

द्रोणाचार्य ने फिर पूछा—'क्या तुम्हें पूरा पक्षी दिखाई दे रहा है?'

अर्जुन ने उत्तर दिया—मैं गीध का मस्तक भर देख रहा हूँ, उसके सम्पूर्ण शरीर को नहीं:—

शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमितिसोऽब्रवीत् ॥

आदि पर्व १३२।७

आचार्यजी ने प्रसन्न होकर उसे निशाना लगाने की आज्ञा दी। अर्जुन ने बाण छोड़ा और सिर कटी हुई चिड़िया पृथ्वी पर आ गिरी।

एकाग्रता ही समस्त सिद्धियों की आधार शिला है। पूरा मन लगाकर जो कार्य किया जाता है उसमें समस्त शक्तियां केन्द्रित हो जाती हैं और सफलता का मार्ग खुल जाता है।'

(आगे भी देखिये)

२. कौन सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता–

कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
अकालज्ञः सुदुर्मेधा कार्याणामविशेषवित् ॥

(वन पर्व १६२।७)

कुबेरजी कहते हैं—'जो कर्मों के विभाग को नहीं जानता, समय को नहीं पहिचानता और कार्यों की विशेषता को नहीं समझता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य इहलोक तथा परलोक में भी नष्ट ही होता है ।'

३. परम-सिद्धि का मूल मन्त्र–

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता० १८।४६)

---

२. विपत्ति के समय धैर्य न छोड़ना

एक दूसरे दिन की बात है कि द्रोणाचार्यजी अपने शिष्यों के साथ गङ्गा स्नान को गये थे । उनके जल में घुसते ही एक मगर मच्छ ने आकर उनका पैर पकड़ लिया । वे यदि चाहते तो अपनी रक्षा स्वयं कर सकते थे, किन्तु वे शिष्यों की परीक्षा लेने के विचार से अपना बनावटी भय दिखलाकर चिल्लाने लगे । गुरु को इस घोर विपत्ति में देखकर सभी शिष्य घबरा गये । एक मात्र अर्जुन ही नहीं घवराये और उन्होंने तट पर खड़े-खड़े ही मगर के मर्म-स्थान में पांच बाण ऐसे मारे कि उसे आचार्यजी को छोड़ देना पड़ा । "विपत्ति के समय धीरज न छोड़कर युक्ति निकालने की कला को अर्जुन में देखकर उन्हें परमानन्द हुआ ।"

जो व्यक्ति विपत्तियों के समय घबरा जाता है, वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ।

श्रीकृष्णजी कहते हैं—'जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजन करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।'

हितं यत् सर्वभूतानानात्मनश्च सुखावहम् ।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूल सर्वार्थ सिद्धये ॥
(उद्योग पर्व ३७।४०)

विदुरजी कहते है—'जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिए हितकर और अपने लिए सुखद हो, उसे ईश्वरार्पण बुद्धि से करे, सम्पूर्ण सिद्धियों का यही मूल मन्त्र है।'

---

१२. शांति

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(गीता २।७० और शा० २५१।०)

भगवान् श्री कृष्णजी कहते हैं—'जैसे नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं उसी प्रकार सब भोग जिस स्थित-प्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।'

यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृतः ।
संतुष्टः सत्यवादी यः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(स्त्री० ७।१८)

विदुरजी कहते हैं—'राजन्! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभ से शून्य, सन्तोषी तथा सत्यवादी होता है, उसे शांति प्राप्त होती है।

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजतो जनः।
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति॥

(उद्यो० ६३।२०)

'जो सम्पूर्ण भूतों का हित चाहने वाला और सबके प्रति मैत्री भाव रखने वाला है, जिससे किसी भी पुरुष को उद्वेग प्राप्त नहीं होता है, जो समुद्र के समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञान रूपी अमृत ते तृप्त है, वही परम शान्ति का भागी होता है।'

---

१३. कर्म

१. कर्मों की अनिवार्यता—

कर्मणा भान्ति देवाः परत्र कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः॥

(उद्योग पर्व २९।९)

श्री कृष्णजी संजय से कहते हैं—"ये देवता कर्म से ही स्वर्ग लोक में प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्म को अपना कर ही सम्पूर्ण जगत् में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़ कर कर्म द्वारा ही दिन-रात का विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं।"

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता १८।११)

श्री कृष्णजी अर्जुन से कहते हैं—"कर्म का सर्वथा त्याग देहधारी के लिए सम्भव नहीं है। परन्तु जो कर्मफल का त्याग करता है, वह ही त्यागी कहलाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता १८।४८)

"हे कौन्तेय ! स्वभावतः प्राप्त कर्म, सदोष होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये। जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएँ का संयोग है उसी प्रकार सब कर्मों के साथ दोष मौजूद हैं।"

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः॥

(वन पर्व २०८।९)

मार्कण्डेयजी कहते हैं—"ब्रह्मन् ! अपने कर्म का परित्याग करने वाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्मों में तत्पर है, उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है।"

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः॥

(शान्ति पर्व ७५।२९)

भीष्मजी कहते हैं—"कोई काम देखने में छोटा होने पर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करने की अपेक्षा कुछ करना ही अच्छा है, **क्योंकि कर्त्तव्यकर्म न करने वाले से बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है।**

कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिंचनः॥

(शान्ति पर्व १३९।८३)

"कठोर अथवा कोमल, जो अपने लिये हितकर हो, वह कर्म करते रहना चाहिये। जो कर्म को छोड़ बैठता है, वह निर्धन होकर सदा अनर्थों का शिकार बना रहता है।"

२. भक्तों और ज्ञानियों के लिए भी शास्त्रविहित कर्मों की परम आवश्यकता—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता १८।५)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप--ये ज्ञानी पुरुषों को भी पवित्र करने वाले हैं।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५।६)

"हे महाबाहो! कर्मयोग के बिना संन्यास (ज्ञानयोग) भी कष्ट साध्य है, परन्तु कर्मयोग से युक्त मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३।५)

"वास्तव में कोई एक क्षण भर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(गीता ६।३)

"योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्वसंकल्पों का अभाव है, वही कल्याण में हेतु कहा गया है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(गीता ३।४)

"मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता को यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि को ही प्राप्त होता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३।६)

"जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोक कर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३।१६)

"हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६।२३)

"जो पुरुष शास्त्र विधि का त्याग कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को और न सुख को ही।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

(गीता ३।२०)

"जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम-सिद्धि को प्राप्त हुए थे, इसलिये लोक-संग्रह की ओर दृष्टिपात करके अर्थात् संसार के हित के लिए भी तुझे कर्म करना ही चाहिये।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गीता ३।२२–२४)

"हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्त्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म ही करता हूँ; क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान हुआ कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जांय और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।

(गीता १८।६०)

"हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा ।"

३. कर्मों के प्रकार—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत् तामसमुच्यते ॥

(गीता १८।२३–२५)

श्रीकृष्णजी कहते हैं— 'जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ और कर्त्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना रागद्वेष के किया गया हो— वह **सात्त्विक** कहा जाता है । परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म **राजस** कहा गया है । जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचारकर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है–वह **तामस** कहागया है ।"

४. त्यागने योग्य कर्म—

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥

(उद्योग पर्व ३९।२९)

विदुरजी जहते हैं—"इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्म के करने से (अन्त में) खटिया पर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहिले से ही नहीं करना चाहिये।"

आदावेव मनुष्येण वर्तितव्यं यथाक्षमम्।
यथानातीसमर्थं वै पश्चात्तापेन युज्यते।।

(स्त्री पर्व १।३५)

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—"मनुष्य को पहिले ही यथा योग्य बर्ताव करना चाहिये, जिससे आगे चलकर उसे बीती हुई बात के लिये पश्चात्ताप न करना पड़े।"

५. कर्म-फल की अनिवार्यता—

प्रायशो हि कृतं कर्म नाफलं दृश्यते भुवि।
अकृत्वा च पुनर्दुःखं कर्म पश्येन्महाफलम्।।

(सौप्तिक पर्व २।१३)

कृपाचार्य जी कहते हैं—"प्रायः किया हुआ कर्म इस भूतल पर कभी निष्फल होता नहीं देखा जाता है; परन्तु कर्म न करने से दुःख की प्राप्ति ही देखने में आती है; अतः कर्म को महान् फलदायक समझना चाहिये।"

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम्।।

(स्त्री पर्व २।३२)

विदुरजी कहते हैं—"मनुष्य का पूर्वकृत कर्म उसके सोने पर साथ ही सोता है, उठने पर साथ ही उठता है और दौड़ने पर साथ-ही-साथ दौड़ता है।"

यथाधेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।।

(शान्ति पर्व ३२२।१६)

भीष्मजी कहते हैं—"जैसे बछड़ा हजारों गौओं में से अपनी माँ को पहचान कर उसे पा लेता है, वैसे ही पहिले का किया हुआ कर्म भी अपने कर्त्ता के पास पहुंच जाता है।

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम्॥

(शान्ति पर्व ३२२।१४)

"दुःख अपने ही किये हुए कर्मों का फल है और सुख भी अपने ही पूर्व किये हुए कर्मों का फल है। जीव माता के गर्भाशय में आते ही पूर्व शरीर द्वारा उपार्जित सुख-दुःख का उपभोग करने लगता है।"

६. कर्मों के अनुसार गति—

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः॥

(शान्ति पर्व ३२९।२५)

नारदजी कहते हैं—"जीव सदा कर्मों के अधीन रहता है। वह शुभ कर्मों के अनुष्ठान से देवता होता है, दोनों के सम्मिश्रण से मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मों से पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में जन्म लेता है।"

आत्मनैव कृतं कर्म आत्यनैवोपभुज्यते।
रह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम्॥

(भीष्म पर्व ७७।४)

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—"राजन्! इहलोक-तथा परलोक में अपने किये हुए कर्म का फल अपने आपको ही भोगना पड़ता है, अतः आपका जैसे-का-तैसा प्राप्त हुआ है।"

याहृशं कुरुते कर्म ताहृशं फलमश्नुते।
स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद् भोक्तुमर्हति ॥

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

श्री महेश्वर पार्वती जी से कहते हैं—"देवि ! जीव जैसे कर्म करता है, वैसा फल पाता है। वह अपने किये हुए कर्म का फल स्वयं ही भोगता है, दूसरा कोई उसे भोगने का अधिकारी नहीं है।

नास्ति कर्मफलच्छेत्ता कश्चिल्लोकत्रयेऽपि च।
इति ते कथितं सर्वं निर्विशङ्का भव प्रिये ॥

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

"तीनों लोकों में कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो कर्मों के फल का विना भोग किये नाश कर सके ❀। प्रिये ! इस विषय में तुम्हें सारी बातें बता दीं। अब सन्देह-रहित हो जाओ।

सात्त्विकाः पुण्य लोकेषु राजसा मानुषे पदे।
तिर्यग्योनौ च नरके तिष्ठेयुस्तामसा नराः ॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १४५)

❀(१) जीव करम बस सुख दुख भागी।
(२) बुआ सो लुनिअ लहिए जो दीन्हा ॥
(३) जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं॥
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥
रामचदु पति सो बैदेही। सोवत महि विधि बाम न केही ॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू ॥
(४) करम प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

—रामचरित मानस

"सात्त्विक मनुष्य पुण्य लोकों में जाते हैं। राजस जीव मनुष्य लोक में स्थित होते हैं तथा तमोगुणी मनुष्य पशु-पक्षियों की योनि में और नरक में स्थित होते हैं।"

७. कर्मों की सिद्धि में कारण—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
(गीता १८।१४–१५)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन, भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियायें और पाँचवा (कारण) देव है। मनुष्य मन-वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है—उसके ये पाँचों कारण हैं।

८. बन्ध और मोक्ष का कारण—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
यस्यनाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८।१६–१७)

"परन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण अपने को ही कर्त्ता मानता है, वह दुर्मति कुछ नहीं समझता (वह कर्मबन्धन को प्राप्त होता है)। जिस पुरुष के हृदय में 'मैं कर्त्ता हूं' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह

पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बंधता हैं ।" ❋

❋ "यहाँ यह दिखाया है कि इस लोक और परलोक के समस्त पदार्थों में ममता, आशक्ति और कामना का अभाव हो जाना, किसी भी कर्म में या उसके फल में अपना किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सब कर्मों को स्वप्न के कर्म और भोगों की भाँति क्षणिक, नाशवान और कल्पित समझ लेने के कारण अन्तःकरण में उनके संस्कारों का सग्रह नहीं होता । यही उसकी बुद्धि का लिपायमान न होना है । इस प्रकार मन, बुद्धि इन्द्रियों और शरीर में अहंता, ममता का सर्वथा अभाव हो जाने के कारण उसके द्वारा होने वाले कर्मों से या उसके फल से जिसका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है--उस पुरुष के मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा जो लोक संग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म किये जाते हैं वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करने वाले ही होते हैं । क्योंकि अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थ बुद्धि का अभाव हो जाने के बाद पापकर्मों के आचरण का कोई कारण नहीं रह जाता । अत: जैसे अग्नि, वायु और जल आदि के द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणी की मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तव में उस प्राणी को मारने वाले हैं और न वे उस कर्म से बंधते ही है--उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष लोक-दृष्टि से स्वधर्म पालन करते समय यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मों को करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फल से नहीं बंधता, इसमें तो कहना ही क्या है । किन्तु क्षात्रधर्म जैसे--किसी कारण से योग्यता प्राप्त हो जाने पर समस्त प्राणियों का संहाररूप--क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फल से भी नहीं बंधता । अर्थात् लोक-दृष्टि से समस्त कर्म करता हुआ भी उन कर्मों से सर्वथा बन्धन-रहित ही रहता है ।" —गीता तत्त्व विवेचनी टीका से

१४. कर्त्ता

१. सात्त्विक कर्त्ता—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥
(गीता १८।२६)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"जो कर्त्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष शोकादि विकारों से रहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है ।

२. राजस कर्त्ता—

रागी कर्मफल प्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
(गीता १८।२७)

"जो कर्ता आसक्तियुक्त, कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है, वह राजस कहा गया है ।

३. तामस कर्त्ता—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥
(गीता १८।२८)

"जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है--वह तामस कहा जाता है ।"

४. कर्त्तापन का अभिमान ही कर्मबन्धन का कारण है—

स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च ।
सर्वे भावास्तथाभावा: पुरुषार्थो न विद्यते ॥
पुरुषार्थस्य चाभावे नास्ति कश्चिन्न कारकः ।
स्वयं न कुर्वतस्तस्य जातु मानो भवेदिहः ॥
यस्तु कर्तारमात्मानं मन्यते साध्वसाधुवा ।
तस्य दोषवती प्रज्ञा अतत्त्वज्ञेति मे मतिः ॥

(शान्ति पर्व २२२।१५-१७)

प्रह्लादजी इन्द्र से कहते हैं—"सब तरह के भाव और अभाव स्वभाव से ही आते जाते रहते हैं। उसके लिए पुरुष का कोई प्रयत्न नहीं होता। पुरुष का कोई प्रयत्न न होने से कोई पुरुष कर्ता नहीं हो सकता; परन्तु स्वयं कभी न करते हुए भी उसे इस जगत् में कर्तापन का अभिमान हो जाता है। जो आत्मा को शुभ या अशुभ कार्यों का कर्ता मानता है, उसकी बुद्धि दोष से युक्त और तत्व-ज्ञान से रहित है--ऐसी मेरी मान्यता है।"

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(गीता २।३८)

श्री कृष्णजी कहते हैं—'सुख और दुख, लाभ और हानि जय और पराजय को समान समझकर युद्धरूपो कर्म के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यास योगयुक्ता विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गीता ९।२७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान् के अर्पण होते हैं—ऐसे सन्यास-योग से युक्त चित्त वाला तू शुभ-शुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जायगा और उनमें मुक्त होकर मुझ को ही प्राप्त होगा।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।।

(गीता १२।१०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूपी सिद्धि को ही प्राप्त होगा।'

१५. धर्म और अधर्म

(क) धर्म

१. धर्म क्या है–

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
संग्रहेणैष धर्मःस्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ।।

(उद्यो० ३९–७१)

विदुरजी कहते हैं—'जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरों के प्रति भी न करे। संक्षेप में धर्म का यही रूप है। इसके विपरीत जिसमें कामना से प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ही।'

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मोधारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

(कर्ण ६९।५८)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"धर्म ही प्रजा को धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं। इसलिए जो धारण (प्राण रक्षा) से युक्त हो—जिसमें किसी भी जीव की हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है। ऐसा ही धर्म शास्त्रों का सिद्धान्त है।"

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नानैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

(वन पर्व ३१३।११७)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियां भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्म का तत्त्व गुहा में छिपा है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिससे महापुरुष जाते रहे है, वही (धर्म का) मार्ग है।"

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।
यःस्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

(शान्ति पर्व १०९।१०)

भीष्मजी कहते हैं—"प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (कल्याण) सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्र-वेत्ताओं का निश्चय है।

न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्धयेति नः श्रुतम्।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥

(शान्तिपर्व १४२।१७)

"हमने सुना है कि केवल वचन द्वारा अथवा केवल बुद्धि (तर्क) के द्वारा ही धर्म का निश्चय नहीं होता है, अपितु शास्त्र-वचन और तर्क दोनों के समुच्चय द्वारा उसका निर्णय होता है—यही बृहस्पति का मत है, जिसे स्वयं इन्द्र ने बताया है।"

एतत् प्रधानं च न कामकारो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे॥

(शान्तिपर्व १६७।४७)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"इस प्रकार विचार करना ही मोक्ष का प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं—'विधाता ने मुझे जिस कार्य में लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूं। विधाता सभी प्राणियों को विभिन्न कार्यों के लिए प्रेरित करता है।' अतः आप लोगों को ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है (अर्थात् इस विचार से कार्य करना ही धर्म है)।"

२. धर्म और मधर्म का निर्णय कर्ता की भावनानुसार होता है—

मनोदोष विहीनानां न दोषःस्यात् तथा तव।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता स्नेहेन दुहितान्यथा॥

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशा० अध्याय ४३)

देवशर्माजी अपने शिष्य विपुल से कहते हैं—"जो मानसिक दोष से रहित है, उन्हें पाप नहीं लगता। यह बात तुम्हारे लिए भी हुई है। अपनी प्राण-वल्लभा पत्नी का आलिङ्गन और भाव से किया जाता है और अपनी पुत्री का और भाव से अर्थात् उसे वात्सल्य-स्नेह से गले लगाया जाता है।"

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(गीता १७।३)

श्रीकृष्णजी कहते हैं–"यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसो सात्त्विकी, राजसी श्रद्धा या तामसी होती है, वह वैसा ही हो जाता है।"

३. एक ही क्रिया परिस्थिति के अनुसार धर्म अथवा अधर्म भी हो सकती है—

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः॥

(शान्तिपर्व ३६।११)

मनुजो कहते हैं—"एक ही क्रिया देश और काल के भेद से धर्म या अधर्म हो जाती है। चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि भी अवस्था विशेष में धर्म माने गये हैं।"

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः॥

(शान्तिपर्व १२३।१०)

भीष्मजी कहते हैं—"फल की इच्छा धर्म का मल (दोष) है, संगृहीत करके रखना—अर्थ का मल (दोष) है और आमोद-प्रमोद काम का मल (दोष) है, परन्तु यह त्रिवर्ग यदि अपने दोषों से रहित हो तो कल्याण-कारक होता है।"

अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्नुमर्हति।
बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत॥

(शान्ति पर्व १४२।८)

"**एक ही धर्म या कर्म किसी समय धर्म माना जाता है और किसी समय अधर्म।** उसकी जो यह दो प्रकार की स्थिति है, उसी का नाम द्वैध है। जो इस द्विविध तत्त्व को नहीं जानता, वह द्वैध मार्ग पर पहुंचकर संशय में पड़ जाता है। भरत-नन्दन ! बुद्धि के द्वैध को पहले ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।"

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥

(शान्ति पर्व २६०।८)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"सत्ययुग के धर्म कुछ और हैं, त्रेता और द्वापर के धर्म कुछ और ही हैं और कलियुग के धर्म कुछ और ही बताये गये हैं। मानों मुनियों ने लोगों की शक्ति के अनुसार ही धर्म की व्यवस्था की है।"

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः ॥

(शान्ति पर्व १४१।३९)

विश्वामित्रजी कहते हैं—"आपत्तिकाल में प्राण रक्षा के लिए ब्राह्मण को श्रेष्ठ, समान तथा हीन मनुष्य के घर से चोरी कर लेना उचित है, यह शास्त्र का निश्चत विधान है।"

किन्तु आपत्ति काल में भी उत्तरोत्तर अधर्म की प्रवृत्ति उचित नहीं, उग्रश्रवाजी कहते हैं--

सम्यक्सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा ।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥

(आदि पर्व ३७।२०)

"अर्थात् आपत्तिकाल में शान्ति के लिए वही उपाय उत्तम माना गया है, जो भलीभांति श्रेष्ठ धर्म के अनुकूल किया गया हो। संकट से वचने के लिए उत्तरोत्तर अधर्म करने की प्रवृत्ति तो सम्पूर्ण जगत् का नाश कर डालेगी।"

४. कौन व्यक्ति धर्म को नहीं पहिचानते—

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥

त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ।।

(उद्यो० ३३।१०१-१०२)

विदुरजी कहते हैं—'महाराज धृतराष्ट्र ! दस प्रकार के लोग धर्म के तत्त्व को नहीं जानते, उनके नाम सुनो । नशे में मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्द-बाज, लोभी, भयभीत और कामी--ये दस हैं । अतः इन सब लोगों में विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ।'

सर्वो विमृशते जन्तुः कृच्छ्रस्थो धर्मदर्शनम् ।
पदस्थः पिहितं द्वारं परलोकस्य पश्यति ।।

(शल्य० ३२।५९)

युधिष्ठिरजी दुर्योधन से कहते हैं—"प्रायः सभी प्राणी जब स्वयं संकट में पड़ जाते हैं तो अपनी रक्षा के लिए धर्मशास्त्र की दुहाई देने लगते हैं और जब अपने उच्च पद पर प्रतिष्ठित होते हैं, उस समय उन्हें परलोक का दरवाजा वन्द दिखायी देता है ।'

शुश्रुषुरपि दुर्मेधाः पुरुषोऽनियतेन्द्रियः ।
नालं वेदयितुं कृत्स्नौ धर्मार्थाविति मे मतिः ।।
तथैव तावन्मेधावी विनयं यो न शिक्षते ।
न च किंचन जानाति सोऽपि धर्मार्थनिश्चयन् ।।

(सौप्ति० ५।१-२)

कृपाचार्यजी कहते हैं—'अश्वत्थामन् ! मेरा विचार है कि जिस मनुष्य की बुद्धि दुर्भावना से युक्त है, तथा जिसने अपनी इन्द्रियों को क वू में नहीं रक्खा है, वह धर्म और अर्थ की बातों को सुनने की इच्छा रखने पर भी, उन्हें पूर्ण रूप से समझ नहीं सकता । इसी प्रकार मेधावी होने पर भी जो पुरुष विनय नहीं सीखता, वह भी धर्म और अर्थ को थोड़ा भी नहीं समझ पाता है ।'

५. धर्महीन की गति—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।'

(वनपर्व ३१३।१२८)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"यदि धर्म का नाश किया जाय तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्ता को भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाय, तो वही कर्ता की भी रक्षा कर लेता है। इसी से मैं धर्म का त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न करदे।

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन् स कृपणः पापो न लोकान् प्रतिपद्यते ॥

(वन पर्व ३१।१८)

'जो धर्म के प्रति सन्देह करता है, उसकी शुद्धि के लिये कोई प्रायश्चित नहीं है। वह धर्म-विरोधी चिन्तन करने वाला दीन पापात्मा पुरुष उत्तम लोकों को नहीं पाता अर्थात् अधोगति को प्राप्त होता है।'

६. धर्म अथवा अधर्म अपना निश्चित फल समय पर देता है:—

स नायमफलो धर्मो ना धर्मोऽफलवानपि ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥

(वन पर्व ३१।३१)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—'धर्म निष्फल नहीं होता। अधर्म भी अपना फल दिये बिना नहीं रहता। विद्या और तपस्या के भी फल देखे जाते हैं।

न फलादर्शनाद् धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चानसूयता ।।
(वन पर्व ३१।३८)

'धर्म का फल तुरन्त दिखाई न दे तो इसके कारण धर्म एवं देवताओं पर आशङ्का नहीं करनी चाहिये । दोष-दृष्टि न रखते हुए यत्नपूर्वक यज्ञ और दान करते रहने चाहिये ।'

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥
(शान्ति पर्व ३२२।४)

भीष्मजी कहते हैं—"जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धन-सम्पन्न तथा शुभ-कर्म परायण होते हैं, वे उत्सव से अधिक उत्सव को, स्वर्ग से अधिक स्वर्ग तथा सुख से अधिक सुख को पाते हैं ।"

७. धर्माचरण का महत्त्व एवं लाभ—*

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद् धनम् ।।
(शान्ति पर्व ३२१।४६)

भीष्मजी कहते हैं—"जिस धन को न तो राजा से भय है और न चोर से ही, तथा जो मर जाने पर भी जीव का साथ नहीं छोड़ता है, उस धर्मरूपी धन का उपार्जन करो ।

---

* जिमि सरिता सागर महुँ जाही । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ । धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥
—रामचरितमानस

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियोजनः ।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ।।
यदेव कर्म केवलं पुराकृतं शुभाशुभम् ।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ।।

(शान्ति पर्व ३२१।५०–५१)

"जीव जब अकेला ही परलोक के पथ पर प्रस्थान करता है, उस संकट के समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रियजन भी उसके साथ नहीं जाते हैं। पुत्र ! परलोक में जाते समय अपना पहिले का किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म होता केवल वही साथ रहता है।

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन धर्ममाचरेत् किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ।।

(शान्ति पर्व ३२१।९३)

"उस धन से क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसी को दे सकता और न अपने उपभोग में ही ला सकता है ? उस बल से क्या लाभ, जिससे शत्रुओं को बाधित न किया जा सके ? उस शास्त्रज्ञान से क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके ? और उस जीवात्मा से क्या लाभ, जो न तो जितेन्द्रिय ही है और न मन को वश में रख सकता है ?"

८. उत्तम या श्रेष्ठ धर्म क्या है—*

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।

(गीता ३।३५)

---

* परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।
—रामचरितमानस

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"अच्छी तरह आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।"

विधर्मिणं धर्मविद्भिः प्रोक्तं तेषां विषोपमम् ॥

(द्रोण पर्व १९७।३३)

'जो अपना धर्म छोड़ कर पर (दूसरे के) धर्म को ग्रहण करता है, उस विधर्मी को विष के तुल्य बताया है।'

अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः।
अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

(शान्ति पर्व २१।११-१२)

देवस्थान मुनि युधिष्ठिर जी से कहते हैं—"किसी भी प्राणी से द्रोह न करके जिस धर्म का पालन होता है, वही साधु पुरुषों की राय में उत्तम धर्म है। किसी से द्रोह न करना, सत्य बोलना, समस्त प्राणियों को यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सब के प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियों का संयम करना, अपनी ही पत्नी से सन्तान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा एवं अचंचलता आदि गुणों को अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं, ऐसा स्वायम्भुव मनु का कथन है।"

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथाऽत्मनि ॥

(शान्ति पर्व १६७।९)

विदुरजी कहते हैं—"अतः मन को वश में करके धर्म को अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियों के

साथ वैसा ही वर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं।"

६. धर्म का आचरण किस प्रकार करे—

न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥

(आदि पर्व २१२।३४)

अर्जुन युधिष्ठिर जी से कहता है—'प्रभो ! मैंने आपके ही मुख से सुना है कि धर्माचरण में कभी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। अतः मैं सत्य की शपथ खाकर और शस्त्र छूकर कहता हूँ कि मैं सत्य से विचलित नहीं होऊँगा।'

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम् ॥

(शान्ति पर्व ३२१।७३)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिये और जो दोपहर बाद करना हो, उसे पहिले ही प्रहर में पूरा कर डालना चाहिये, क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम पूरा हुआ है या नहीं।"

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

(स्वर्ग-पर्व ५।६३)

व्यासजी कहते हैं—"कामना से, भय से अथवा प्राण बचाने के लिए भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का हेतु अनित्य।"

१०. धर्म, अर्थ और काम का समन्वय—

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ।
एतत् त्रयवाप्तव्यमधर्म परिवर्जितम् ॥

(अनुशासन पर्व १११।१८½)

वृहस्पति जी कहते हैं—"धर्म, अर्थ और काम—ये तीन जीवन के फल हैं, अतः मनुष्य को अधर्म के त्याग पूर्वक इन तीनों को उपलब्ध करना चाहिये।"

११. धर्मात्मा पुरुषों की कार्यपद्धति (युधिष्ठिर जी का आदर्श)—

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्ममममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्चयशोधनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥

(वन पर्व ३४।२२)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"किन्तु भीमसेन ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो । मैं जीवन और अमरत्व की अपेक्षा भी धर्म को बढ़कर ही समझता हूं । राज्य, पुत्र, यश और धन—यह सबके सब सत्यधर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकते ।

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजयः ।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥

(उद्योग पर्व ३१।२३)

"संजय ! मैं शान्ति रखने में भी समर्थ हूं और युद्ध करने में भी । धर्म और अर्थ के विषय का भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है। **मैं समय के अनुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ।"**

(ख) अधर्म

१. अधर्म का फल कर्ता को ही भोगना पड़ता है—

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशान वाप्नोति परत्रेह च मानवः ।।

(शान्ति पर्व १७४।२५)

सेनजित् के प्रति ब्राह्मण की उक्ति बताते हुए भीष्मजी कहते हैं—"मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्ब के लिये चोरी आदि पापकर्मों का संग्रह करता है; किन्तु इस लोक और परलोक में उसे अकेले ही उन समस्त कर्मों का क्लेशमय फल भोगना पड़ता है।"

२. अधर्म का फल निश्चित रूप से मिलता है—

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ।
शनै रावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥

(आदि० ८०।२)

शुक्राचार्यजी कहते हैं—"हे राजन् ! जो अधर्म किया जाता है, उसका फल तुरन्त नहीं मिलता। जैसे गाय की सेवा करने पर कुछ काल बाद ही वह फल देती है अथवा धरती को जोत बोकर बीज डालने के कुछ काल के बाद ही फल मिलता है, उसी प्रकार किया जाने वाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ता की जड़ ही काट देता है।

पुत्रेषु व नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे ।।

(आदि० ८०।३)

"यदि वह (पाप से उपार्जित द्रव्य का) दुष्परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखाई देता तो उस अन्यायोपार्जित द्रव्य का उपभोग

करने के कारण पुत्रों अथवा नाती-पोतों पर अवश्य प्रकट होता है। जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरन्त नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य ही पेट में उपद्रव करता है, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है।"

स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत् ।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः ।।

(आदि० १०७।१२)

धर्मराज जी अणीमाण्डव्य ऋषि से कहते हैं—"हे विप्रर्षे! थोड़ा सा भी किया हुआ दान कई गुना फल देने वाला होता है, वैसे ही (थोड़ा सा) अधर्म भी बहुत दुःखरूपी फल देने वाला होता है।"

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।।
मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ।।

(वन० ९४.४–५)

लोमस ऋषि युधिष्ठिरजी से कहते हैं—"पहिले अधर्म द्वारा मनुष्य बढ़ सकता है, फिर अपने मन के अनुकूल सुख-सम्पत्तिरूप अभ्युदय को देख सकता है, तत्पश्चात् वह शत्रुओं पर विजय पा सकता है और अन्त में जड़मूल सहित नष्ट हो जाता है। महीपाल! मैंने दैत्यों और दानवों को अधर्म के द्वारा बढ़ते और पुनः नष्ट होते देखा है।"

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् ।
तानि पुत्रान् पशुन् घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंस्नात् ।।

(शान्ति पर्व ९१।२०)

उथत्य जी कहते हैं—"झूठे अपराध लगाये जाने पर

रोते हुए दीन-दुर्बल मनुष्यों के नेत्रों से जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या कलंक लगाने के कारण उन अपराधियों के पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु ।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ।।

(शान्ति पर्व ९१।२१)

"यदि पाप का फल अपने को नहीं मिला तो वह पुत्रों तथा नाती-पोतों को अवश्य मिलता है। जैसे पृथ्वी में बोया हुआ बीज तुरन्त फल नहीं देता, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी तत्काल फल नहीं देता (समय आने पर ही उसका फल मिलता है)।"

महादृतिरिवाध्मातः सुकृते नैव वर्तते ।
ततः समूलो ह्रियते नदीं कुलादिव द्रुमः ।।

(शान्ति पर्व ९५।२१)

भीष्मजी कहते हैं—"जैसे चमड़े की थैली हवा भरने से फूल जाती है, वैसे ही पापी भी पाप से फूल जाता है। वह कभी पुण्यकर्म में प्रवृत्त नहीं होता है, तदनन्तर जैसे नदी के तट पर खड़ा हुआ वृक्ष वहाँ से जड़ सहित उखड़कर नदी में बह जाता है, उसी प्रकार वह पापी भी समूल नष्ट हो जाता है।

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद्भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ।।

(शान्ति पर्व ३२२।३)

'पाप कर्म करने वाले दरिद्र मानव दुर्भिक्ष से दुर्भिक्ष को क्लेश से क्लेश को तथा भय से भय को पाते हुए मरे हुओं से भी अधिक मृतक तुल्य होते हैं।"

३. विभिन्न पापों के विभिन्न फल—

अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम्।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद् ब्रह्महत्यया॥

(अनुशासन पर्व २२।२९)

भीष्मजी कहते हैं—"न्याय का अधिकार पाकर झूठा फैसला देना अथवा न्यायालय में जाकर झूठ बोलना, राजाओं के पास किसी की चुगली करना और गुरु के साथ कपटपूर्ण बर्ताव करना—ये तीन ब्रह्महत्या के समान पाप हैं।

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः॥

(अनुशासन पर्व २३।६५)

"भरतनन्दन! जो दूसरों की जीविका नष्ट करते, घर उजाड़ते, पति-पत्नि में बिछोह डालते, मित्रों में विरोध पैदा करते और किसी की आशा भङ्ग करते हैं, वे निश्चय ही नरक में जाते हैं।

सूचकाः सेतुभेत्तारः परवृत्युपजीविकाः।
अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः॥

(अनुशासन पर्व २३।६६)

"जो चुगली खाने वाले, कुल या धर्म की मर्यादा नष्ट करने वाले, दूसरों की जीविका पर गुजारा करने वाले तथा मित्रों द्वारा किये गये उपकार को भुला देने वाले हैं, वे निश्चय ही नरक में पड़ते हैं।"

अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानां चाप्यपूजनात्।
नृघातकसमं पापं शश्वत् प्राप्नोति मानवः॥

(शान्ति पर्व २८४।१७)

दधीचिजी कहते हैं—"सज्जनो! अपूजनीय पुरुष की पूजा

करने से और पूजनीय महापुरुष की पूजा न करने से मनुष्य सदा ही नर-हत्या के समान पाप का भागी होता है।"

> यो मनुष्यः स्वयं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति।
> कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति॥
> सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये।
> स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन् मूढः समश्नुते॥

(अनुशा० पर्व ४५।१८-१९)

भीष्मजी कहते हैं--"जो मनुष्य अपने पुत्र को बेचकर धन पाना चाहता है अथवा जीविका के लिये मूल्य लेकर कन्या को बेच देता है, वह मूढ कुम्भीपाक आदि सात नरकों में भी निकृष्ट कालसूत्र नामक नरक में पड़कर अपने ही मलमूत्र और पसीने का भक्षण करता है।"

> अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गतः।
> महद् दुःखं समासाद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते॥

(अनुशासन पर्व १११।४०)

बृहस्पति जी कहते हैं—"अधर्म-परायण मनुष्य यमलोक में जाता है और वहाँ महान् दुःख भोगकर यहाँ पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेता है।

> विश्वासेन तु निक्षिप्तं यो विनिह्नोति मानवः।
> स गतायुर्नरस्तात मत्स्ययोनौ प्रजायते॥

(अनुशासन पर्व १११।१२४)

"तात ! जो मानव विश्वासपूर्वक रक्खी हुई दूसरे की धरोहरों को हड़प लेता है, वह गतायु होने पर मत्स्यकी योनि में जन्म लेता है।"

यत्रधर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।

(उद्योग पर्व ९५।४८ $\frac{1}{2}$)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जहां सभासदों के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोंटा जाता हो, वहां वे सभासद नष्ट हुए माने जाते हैं ।"

जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति ।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ।।

(आदि १७९।११)

और्व कहता है—'जो मनुष्य शक्तिमान् एवं समर्थ होते हुए भी जानबूझ कर पाप को नहीं रोकता, वह भी उसी पाप कर्म में लिप्त हो जाता है ।'

४. प्रायश्चित—

धनंजय कृतं पापं कल्याणे नोपहन्यते ।
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा ।।

(शान्ति पर्व ७।३६ $\frac{1}{2}$)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—'धनंजय ! किया हुआ पाप कहने से, दान करने से और तपस्या से भी नष्ट हो जाता है ।'

यो हि पाप समारम्भे कार्ये तद्भावभावितः ।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात् कृत्वा च निरपत्रपः ।।
तस्मिंस्तत् कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ।।

(शान्ति पर्व ३३।३५-३६)

व्यासजी कहते हैं—'जो पुरुष हृदय में पाप की भावना से भावित रहता है तथा पापकर्म करने के पश्चात् भी लज्जित नहीं

होता, उसमें वह सारा पाप पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है-- ऐसा शास्त्र का कथन है। उसके लिए कोई प्रायश्चित नहीं है तथा प्रायश्चित से भी उसके पापकर्म का नाश नहीं होता है।'

तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन भारत।
पुनाति पापं पुरुषं पुनश्चेन्न प्रवर्तते ।।

(शान्ति पर्व ३५।१)

'भरतनन्दन! मनुष्य तप से, यज्ञ आदि सत्कर्मों से तथा दान के द्वारा पाप को धो-बहाकर अपने आपको पवित्र कर लेता है, परन्तु यह तभी सम्भव है, जब वह फिर पाप में प्रवृत्त न हो।'

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः।
अहिंसो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।।

(शान्ति पर्व ३५। ३७)

'जो पवित्र स्थान में मिताहारी हो हिंसा का सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदि से शून्य हो मौनभाव से गायत्री मन्त्र का जप करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।'

तस्मात् पापं गूहेत गूहमानं विवर्धयेत्।
कृत्वा तत् साधुष्वख्येयं ते तत् शमयन्त्युत ।।

(अनुशासन. १६२।५८)

भीष्मजी कहते हैं—'इसलिए अपने पाप को न छिपाये। छिपाया हुआ पाप बढ़ता है। यदि कभी पाप बन गया हो तो उसे साधु पुरुषों से कह देना चाहिये। वे उसकी शांति कर देते हैं।'

१६–अहिंसा

१. अहिंसा परम धर्म है–

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥

(अनुशासन पर्व ११५ । २३)

भीष्मजी कहते हैं—"अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है; क्योंकि उसी से धर्म की प्रवृत्ति होती है।"

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषुवाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥

(अनुशासन० ११६।२८–३०)

"अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है। अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है। सम्पूर्ण यज्ञों में जो दान किया जाता है, समस्त तीर्थों में जो गोता लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण दानों का जो फल है—वह सब मिलकर भी अहिंसा के बराबर नहीं हो सकता।"

यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्॥

(कर्ण ६९।५७)

कौशिक मुनि कहते हैं—'सिद्धान्त यह है कि जिस कार्य में हिंसा न हो, वही धर्म है। महर्षियों ने प्राणियों की हिंसा न होने देने के लिये ही उत्तम धर्म का प्रवचन किया है।'

अहिंसा सकलोधर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामियोधर्मः सत्य वादिनाम् ॥
(शान्ति पर्व २७२।२०)

नारदजी कहते हैं—'अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। अब मैं तुम्हें सत्य का महत्त्व बताऊँगा, जो सत्यवादी पुरुषों का परम धर्म है।'

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥
(अनुशासन पर्व ११६।८)

भीष्मजी कहते हैं—'जगत् में अपने प्राणों से अधिक प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिये मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, उसी तरह दूसरों पर भी दया करे।'

२. यज्ञों में भी हिंसा अवैध है–

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानिच्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
(शान्ति पर्व ३३७। ४)

ऋषि लोग देवताओं से कहते हैं—'देवताओं! यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिये, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजों का ही नाम अज है; अतः बकरे का बध करना हमें उचित नहीं है।'

३. अहिंसक सर्वत्र निर्भय है–

न हिंसयति यो जन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते ॥
(शांतिपर्व १७५।२७)

भीष्मजी कहते हैं—'जो मनुष्य मन, वाणी और शरीर रूपी साधनों द्वारा प्राणियों की हिंसा नहीं करता, उसकी भी हिंसा जीवन और अर्थ का नाश करने वाले हिंसक प्राणी नहीं करते हैं।'

यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बद्ध्यते ॥

(शान्तिपर्व २७७।२७३)

'जो मन, वाणी, क्रिया और अन्य कारणों द्वारा किसी भी प्राणी की जीविका अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी वध या बन्धन के कष्ट में नहीं डालते।'

४. अहिंसक सदा सुखी रहता और परम गति पाता है–

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ॥
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥

(अनुशासन पर्व ११३।६)

बृहस्पतिजी कहते हैं—'जो मनुष्य सब भूतों को अपने समान समझता, किसी पर प्रहार नहीं करता और क्रोध को अपने काबू में रखता है, वह मृत्यु के पश्चात् सुख भोगता है।'

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमान्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥

(अनुशासन पर्व ११३।५)

'जो मनुष्य अपने सुख की इच्छा रखकर अहिंसक प्राणियों को डण्डे से मारता है, वह परलोक में सुखी नहीं होता है।'

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥

(अनुशासन पर्व ११३।७)

'जो सम्पूर्ण भूतों की आत्मा है, अर्थात् सबकी आत्मा को अपनी आत्मा समझता है तथा जो सब भूतों को समान भाव से देखता है, उस गमनागमन से रहित ज्ञानी की गति का पता लगाते समय देवता भी मोह में पड़ जाते हैं।'

परपीडामकृत्वैव भृत्यान् बिभ्रति ये नराः।
तत्पथं ससुखं यान्ति विमानैः काञ्चनोज्ज्वलैः॥

(दाक्षिणात्यप्रति आश्व० अध्याय ९२)

श्री कृष्णजी कहते हैं—'जो दूसरों को कष्ट पहुंचाये बिना ही अपने कुटुम्ब का पालन करते हैं, वे सुवर्णमय विमानों के द्वारा सुखपूर्वक यात्रा करते हैं।'

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्म बन्धनैः।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन॥

(अनुशासन पर्व १४४।७)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—'जो मन वाणी और क्रिया द्वारा किसी की हिंसा नहीं करते हैं और जिनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गई है, वे पुरुष कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।'

५. किसीके प्राण बचाने हेतु असत्य भाषण भी धर्म है—

प्राणिनामवधस्तात सर्वं ज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥

(कर्ण पर्व ६९।२३)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—'हे तात्! मेरे विचार से प्राणियों की हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। **किसी की प्राण रक्षा के लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किन्तु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे।'**

६. किसी को सताना महान् अहितकर है—

कृपणस्य च यन्मन्युर्मुनेराशीविषस्य च ।
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ।।

(अनुशा० पर्व ५१।३८)

च्यवन ऋषि कहते हैं—'निषादगण ! किसी दीन-दुखिया की, ऋषि की तथा विषधर सर्प की रोषपूर्ण दृष्टि मनुष्य को उसी प्रकार जड़मूल सहित जलाकर भस्म कर देती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि सूखे घासफूस के ढेर को ।'

७. हिंसा के त्याग से अन्य लाभ—

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ।।

(अनुशा०पर्व ११५।६)

भीष्मजी कहते हैं—'जो सुन्दर रूप, पूर्णाङ्गता, पूर्ण आयु, उत्तम बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मरण-शक्ति प्राप्त करना चाहते थे, उन महात्मा पुरुषों ने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया था ।'

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ।।
क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम् ।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषु च ।।

(अनुशासन पर्व ११६।१३–१४)

भीष्मजी कहते हैं—'जो दया-परायण पुरुष सम्पूर्ण भूतों को अभयदान देता है, उसे भी सब प्राणी अभयदान देते हैं—ऐसा हमने सुन रक्खा है । वह घायल हो, लड़खड़ाता हो, गिर पड़ा हो, पानी के वहाव में खिंचकर बहा जाता हो, आहत हो अथवा किसी भी सम-विषम अवस्था में पड़ा हो, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं ।'

प्राणदान का महत्त्व–

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम्॥

(अनुशासन पर्व ११६।१६)

भीष्मजी कहते हैं—'प्राणदान से बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। अपने आत्मा से बढ़कर प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है। यह निश्चित बात है।

जीवितं हि परित्यज्य बहवः साधवो जनाः।
स्वमांसैः परमांसानि परिपाल्य दिवं गताः॥

(अनुशासन पर्व ११४।१८)

"उशीनर, शिवि आदि बहुत से श्रेष्ठ पुरुष दूसरों की रक्षा के लिए अपने प्राण देकर, अपने मांस से दूसरों के मांस की रक्षा करके स्वर्ग लोक में गये हैं।" (अतः अपने प्राण देकर भी दूसरों के प्राणों की रक्षा करनी चाहिये।)

९. चार उपायों से अहिंसा-धर्म का पालनः—

चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः।
एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन॥

(अनुशा० पर्व ११४।४)

भीष्मजी कहते हैं—शत्रुसूदन! ब्रह्मवादी पुरुषों ने (मन से, वाणी से तथा कर्म से हिंसा न करना एवं मांस न खाना—इन) चार उपायों से अहिंसा धर्म का पालन बतलाया है। इनमें से किसी एक अंश की भी कमी रह गयी तो अहिंसा धर्म का पूर्णतः पालन नहीं होता।'

१०. अहिंसा धर्म के अपवाद:—

अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद् यो हन्यादाततायिनम् ।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ।।

(शान्ति पर्व ३४।१९)

व्यासजी कहते हैं—'जो ब्राह्मणोचित आचार से भ्रष्ट होकर आततायी बन गया हो—हाथ में हथियार लेकर मारने आ रहा हो, ऐसे ब्राह्मण को मारने से ब्रह्म हत्या का पाप नहीं लगता। क्रोध ही उसके क्रोध का सामना करता है।'

सकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ।।

(शान्ति पर्व १०९।२८)

भीष्मजी कहते हैं—'पापी मनुष्य अपने कर्म से ही मरा हुआ है, अतः उसको जो मारता है, वह मरे हुए को ही मारता है। उसके मारने का पाप नहीं लगता; अतः कोई भी मनुष्य इन हतबुद्धि पापियों के वध का नियम ले सकता है।।'*

---

*किन्तु दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को न होकर राजा को ही होता है। अतः ऐसे आततायियों को राज्य के द्वारा दण्ड दिलाने की पूर्ण व्यवस्था करानी चाहिये। इस विषय में 'शंख' मुनि अपने भाई 'लिखित' से कहते हैं:—

एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ।।

(शान्ति २३।४४)

शंख बोले—'भाई ! यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था; परन्तु मुझे तुम्हें दण्ड देने का अधिकार नहीं है। दण्ड देने का कार्य तो राजा का ही है। इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्ड को स्वीकार करके तुम पित्तरों सहित पवित्र हो गये।'

१७. सत्य

१. सत्य का महत्त्व— *

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।।
सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वासमम् ।।

(आदि० ७४।१० -१०४)

शकुन्तला दुष्यन्त से कहती हैं--"एक हजार अश्वमेधयज्ञ एक ओर तथा सत्य-भाषण का पुण्य दूसरी ओर यदि तराजू पर रक्खा जाय तो हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी होता है । राजन् ! सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन और समस्त तीर्थों का स्नान भी सत्य वचन की समानता कर सकेगा, इसमें सन्देह ही है (क्योंकि सत्य उनसे भी श्रेष्ठ है) ।

सत्येन वै द्यौश्चवसुन्धरा च तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं सत्यं हि सन्तः प्रति पूजयन्ति ।।

(आदि० ९३।२)

ययाति कहते हैं—"सत्य से ही पृथ्वी और आकाश टिके हुए हैं । इसी प्रकार सत्य से ही मनुष्य लोक में अग्नि प्रज्वलित होती है । मैंने कभी व्यर्थ बात मुंह से नहीं निकाली है; क्योंकि साधु पुरुष सदा सत्य का ही आदर करते हैं ।"

---

* (१) सिवि दधीच हरिचन्द नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ।।
रंतिदेव बलि भूप सुजाना । धरम धरेउ सहि संकट नाना ।।
धरम न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ।।
(२) रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाइ बरु बचन न जाई ।।

—रामचरितमानस

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः ।।

(वन० ६४।१७)

दमयन्ति कहती है--"नरसिंह ! एक ओर अंग और उपाङ्गों सहित विस्तारपूर्वक चारों वेदों का स्वाध्याय हो और दूसरी ओर केवल सत्य भाषण हो तो वह निश्चय ही उससे बढ़कर है ।"

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।

(शान्ति पर्व १६२।५)

भीष्मजी कहते हैं--"सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है ।"

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ।।

(शान्ति पर्व १९०।१)

भृगुजी कहते हैं--"मुने ! सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजा की सृष्टि करता है, सत्य के आधार पर ही संसार टिका हुआ है और सत्य के ही प्रभाव से मनुष्य स्वर्ग लोक में जाता है ।

तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति ।
तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति ॥

(शान्ति पर्व १९०।५)

"वहाँ जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है । इसी प्रकार वहाँ जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है और जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है ।"

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥
(शान्ति पर्व १९९।६४)

जापक ब्राह्मण इक्ष्वाकु से कहता है—"सत्य ही एक मात्र अविनाशी ब्रह्म है। सत्य ही एक मात्र अक्षय तप है, सत्य ही एक मात्र अविनाशी यज्ञ है, सत्य ही एकमात्र नाशरहित सनातन वेद है।"

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
(अनुशासन पर्व ७५।३०)

भीष्मजी कहते हैं—"सत्य के प्रभाव से ही सूर्य तपते हैं, सत्य से अग्नि प्रज्वलित होती है और सत्य से ही वायु का सर्वत्र संचार होता है, क्योंकि सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम् ॥
(अनुशासन पर्व ७५।२८)

"सम्पूर्ण वेदों को धारण करना और समस्त तीर्थों में स्नान करना—इन सत्कर्मों का पुण्य सदा सत्य बोलने वाले पुरुष के बराबर हो सकता है या नहीं—इसमें सन्देह है अर्थात् इनसे सत्य श्रेष्ठ है।"

२. सत्य क्या है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनानुबिद्धम् ॥
(दाक्षिणात्यप्रति सभा पर्व अध्याय ६७)

द्रौपदी कहती है—"वह सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म की बात न कहें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो।"

यद्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा ।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ।।

(वन पर्व २०९।४)

धर्मव्याध कौशिक मुनि से कहता है—"जिससे परिणाम में प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, वह वास्तव में सत्य है। इससे विपरीत जिससे किसी का अहित होता हो या दूसरों के प्राण जाते हों, वह देखने में सत्य होने पर भी वास्तव में असत्य और अधर्म है। इस प्रकार विचार करके देखिये, धर्म की गति कितनी सूक्ष्म है।"

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता कृताः ।
यथा कुमारः सत्यो वै नैव पुण्यो न पापकृत् ।।

(शान्ति पर्व १५२।१५)

शौनक जी कहते हैं—"इस विषय में भी सत्यवान् द्वारा निर्मित हुई इन गाथाओं का उदाहरण दिया जाता है। **जैसे बालक रागद्वेषसे शून्य होनेके कारण सदा सत्य-परायण ही रहता है। न तो वह पुण्य करता है और न पाप ही। इसी प्रकार प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुष को होना चाहिये।"**

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ।।

(शान्ति पर्व १६२।१०)

भीष्मजी कहते हैं—"नित्य एक रस, अविनाशी और अविकारी रहना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्त्तव्य-पालन रूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ।।

(शान्ति पर्व २८७।२०)

नारदजी कहते हैं—"सत्य बोलना भी श्रेयस्कर है;

परन्तु सत्य को यथार्थरूप से जानना कठिन है। मैं तो उसी को सत्य कहता हूं, जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम्॥
(शान्ति पर्व ३२९।१३)

"सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परन्तु सत्य से भी श्रेष्ठ है हितकारी वचन बोलना। जिससे पाणियों का अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचार से सत्य है।"

३. सत्यहीनता के फल—

न रूपमनृतस्यास्ति नानृतस्याति संततिः।
नानृतस्याधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा॥
(उद्योग पर्व १०७।९)

गालव मुनि कहते हैं—"सत्य से शून्य मनुष्य का जीवन नहीं के बराबर है। मिथ्यावादी को संतति नहीं प्राप्त होती। झूठे को प्रभुत्व नहीं मिलता, फिर उसे शुभ गति कैसे प्राप्त हो सकती है?"

तक्षेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा।
यः सम्यग् वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते॥
(शान्ति पर्व ९४।८)

वामदेवजी कहते हैं—"जो अच्छा बर्ताव करने वाले स्वजनों के प्रति मिथ्याव्यवहार करता है,वह इस बर्ताव द्वारा कुल्हाड़ी से जंगल की भाँति अपने आपका ही उच्छेद कर डालता है।"

४. सत्यवादिता के फल—

यः वदन्तीह सत्यानि प्राण त्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
(शान्ति पर्व ११०।११)

भीष्मजी कहते हैं—"जो लोग प्राण जाने का अवसर उपस्थित होनेपर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे सम्पूर्ण प्राणियों के विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखों से पार हो जाते हैं।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ॥
मृत्युरापपद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।

(शान्ति पर्व २७७।२९½)

भीष्मजी बताते हैं—"अमृत और मृत्यु—ये दोनों इस शरीर में ही विद्यमान हैं। मोह से मृत्यु प्राप्त होती है और सत्य से अमृत पद की प्राप्ति होती है।"

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ।
नास्ति सत्यात् परं दानं नास्ति सत्यात् परं तपः ॥

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १४५)

श्री महेश्वर कहते हैं—"**जैसे नौका या जहाज समुद्र से पार होने का साधन है, उसी प्रकार सत्य स्वर्गलोक में पहुँचने के लिये सीढ़ी का काम देता है।** सत्य से बढ़कर दान नहीं है और सत्य से बढ़कर तप नहीं है।

दीर्घायुश्च भवेत् सत्यात् कुल सन्तानपालकः ।
लोकसंस्थितिपालश्च भवेत् सत्येन मानवः ॥

(अनुशा० दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १४५)

"सत्य के पालन से मनुष्य दीर्घायु होता है। सत्य से कुल-परम्परा का पालन होता है और सत्य का आश्रय लेने से वह लोकमर्यादा का संरक्षक है।"

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

(अनुशासन पर्व १४५।२०)

"जो आजीविका अथवा धर्म के लिये तथा स्वेच्छाचार से भी कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।"

५. आदर्श सत्यवादी—*

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ।।
त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथात्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ।।
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम् ।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ।।
विक्रमं वृत्रहा जह्याद् धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्मुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ।।

(आदि पर्व १०३।१५-१८)

माता सत्यवती अपने दोनों पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर कुल की रक्षा के लिये भीष्मजी से राज्यग्रहण एवं विवाह करने को कहती है, इस पर भीष्मजी कहते हैं—"मैं तीनों लोकों का राज्य, देवताओं का साम्राज्य अथवा इन दोनों से भी अधिक महत्त्व की वस्तु को भी एकदम त्याग सकता हूँ, परन्तु सत्य को

---

* कर्ण का प्रतिज्ञापालन

कर्ण की अर्जुन-वध की प्रतिज्ञा को सुनकर इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें अपनी अर्जुन के साथ उसकी रक्षा करते रहने की प्रतिज्ञा की भी याद आई। अतः इन्द्र ने कर्ण का कभी न टूटने वाला कवच और उसके कुण्डल, जो उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न हुए थे, ले लेने का विचार किया। उन्होंने सोचा अच्छा हुआ जो कर्ण ने माँगने पर सब

(आगे भी देखिये)

किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता । पृथ्वी अपनी गन्ध छोड़ दे, जल अपने रस का परित्याग करदे, तेज रूप का और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुण का त्याग करदे । सूर्य प्रभा और अग्नि अपनी उष्मता को छोड़ दे, आकाश शब्द का और चन्द्रमा अपनी शीतलता का परित्याग करदे । इन्द्र पराक्रम को छोड़ दे और धर्मराज धर्म की उपेक्षा करदें, परन्तु मैं किसी प्रकार सत्य को नहीं छोड़ सकता ।"

कुछ दे डालने का व्रत कर लिया । इसलिये उन्होंने ब्राह्मण का वेश बनाकर, कर्ण से इनको माँग लेने का विचार किया ।

सूर्यदेव ने रात को स्वप्न में कर्ण को सावधान करते हुए कहा, 'तात ! देवराज इन्द्र पाण्डवों के हित की इच्छा से तुम्हारे दोनों कुण्डल और कवच माँगने आवेंगे । यदि तुम उन्हें इन्द्र को दे दोगे, तो तुम्हारी आयु क्षीण हो जायगी ।

कर्ण ने कहा—'भगवन् ! यदि आप मुझ से प्रसन्न हैं, तो मुझे अपनी प्रतिज्ञा से न हटायें । मैं ब्राह्मणों के मांगने पर प्राण भी दे सकता हूँ, फिर साक्षात् इन्द्रदेव मेरे पास भिक्षा मांगने को आ रहे है—इससे बढकर और क्या प्रसन्नता की बात होगी ? मेरे जैसे शूरवीर को प्राण देकर भी अपने यश की रक्षा करनी चाहिए । जिसकी कीर्ति नष्ट हो गयी, वह स्वयं भी नष्ट ही है । परलोक में कीर्ति ही पुरुष के लिए महान् सहारा है और इस लोक में भी वह आयु को बढाने वाली है । भगवन् मैं मृत्यु से भी उतना नहीं डरता, जितना झूठ से डरता हूं ।'

अन्त में कर्ण ने अपने कवच और कुण्डल शरीर से काटकर इन्द्र को दे दिए और अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सत्य धर्म की रक्षा की ।

सत्यं वदत मासत्यं सत्यं धर्मः सनातनः ।
हरिश्चन्द्रश्चरति वै दिवि सत्येन चन्द्रवत् ।।

(अनुशासन पर्व ११५।६२)

भीष्म जी कहते हैं—"सत्य बोलो, असत्य न बोलो, सत्य ही सनातन धर्म है । राजा हरिश्चन्द्र सत्य के प्रभाव से आकाश में चन्द्रमा के समान विचरते हैं ।"

हिरण्यरेता नोष्णः स्यात् परिवर्तेत मेदिनी ।
भासं तु न रविः कुर्यान्न तु सत्यं चलेन्मयि ।।

(आश्वमेधिक पर्व ५।२७)

बृहस्पतिजी कहते हैं—"आग चाहे ठण्डी हो जाय, पृथ्वी उलट जाय और सूर्यदेव प्रकाश करना छोड़दें, किन्तु मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा नहीं टल सकती ।"

६. सत्य धर्म के अपवाद—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाह काले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतन्याहुरपातकानि ।।

(आदि पर्व ८२।१६)

शर्मिष्ठा ययाति से कहती है—"राजन् ! परिहासयुक्त वचन असत्य हो तो भी वह हानिकारक नहीं होता । अपनी स्त्रियों के प्रति, विवाह के समय तथा सर्वस्व का अपहरण होते समय यदि कभी विवश होकर असत्य भाषण करना पड़े तो वह दोष-कारक नहीं होता । ये पाँच प्रकार के असत्य पाप-शून्य बताये गये हैं ।

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ।।

(आदि पर्व ८२।१७)

"महाराज ! किसी निर्दोष प्राणी का प्राण बचाने के लिये गवाही देते समय किसी के पूछने पर अन्यथा (असत्य) भाषण करने वाले को यदि कोई पतित कहता है तो उसका कथन मिथ्या है। परन्तु जहाँ अपने और दूसरे दोनों के ही प्राण बचाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ केवल अपने प्राण बचाने के लिये मिथ्या बोलने वाले का असत्य भाषण उसका नाश कर देता है।"

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥

(कर्ण० ६९।३२)

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—"जहाँ मिथ्या बोलने का परिणाम सत्य बोलने के समान **मंगलकारक** हो अथवा जहाँ सत्य बोलने का परिणाम असत्य-भाषण के समान **अनिष्टकारी** हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिये। वहाँ असत्य बोलना ही उचित होगा।

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धर्ममिच्छन्ति कर्हिचित् ।
अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथंचन ॥
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजतः ।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम् ॥

(कर्ण ६९।५९–६०)

"जो लोग अन्यायपूर्वक दूसरों के धन आदि का अपहरण कर लेना चाहते हैं, वे कभी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये दूसरों से सत्य-भाषण रूप धर्म का पालन कराना चाहते हों तो वहाँ उनके समक्ष मौन रहकर उनसे पिण्ड छुड़ाने की चेष्टा करे, किसी तरह कुछ बोले ही नहीं। किन्तु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय अथवा न बोलने से लुटेरों को सन्देह होने लगे तो वहाँ असत्य बोलना ही ठीक है। ऐसे अवसर पर उस असत्य को ही बिना विचारे सत्य समझो।"

यः पापैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथादपि ॥
न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथंचन ।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीड़येत् ॥

(शान्तिपर्व १०९।१६-१७)

भीष्मजी कहते हैं—'यदि शपथ खा लेने से भी पापियों के हाथ से छुटकारा मिल जाय तो वैसा ही करे। जहाँ तक वश चले, किसी तरह भी पापियों के हाथ में धन न जाने दे; **क्योंकि पापाचारियों को दिया हुआ धन दाता को भी पीड़ित कर देता है।'**

---

१८. साक्षी-धर्म

पृष्टोहि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत् ।
सपूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात् तथा परान् ॥
यश्च कार्यार्थितत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते ।
सोऽपि तनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥

(आदि० ७।३-४)

अग्निदेव कहते हैं—'जो साक्षी किसी बात को सत्य-सत्य जानते हुए भी पूछने पर कुछ का कुछ कह देता है, झूठ बोलता है, वह अपने कुल में पहिले और पीछे की सात-सात पीढ़ियों का नाश करता है, उन्हें नरक में ढकेल देता है। इसी प्रकार जो किसी कार्य के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता है, वह उसके पूछने पर यदि जानते हुए भी नहीं बतलाता—मौन है तो वह भी उसी पाप से लिप्त होता है; इसमें संशय नहीं है।'

किन्तु निर्दोष प्राणियों के प्राण बचाने के लिए जो असत्य भाषण करता है, वह दोषी नहीं होता (देखिये सत्य धर्म के अपवाद)।

१९. न्याय

१. अन्यायी की दशा–

यं रात्रिमधिविन्ना यां चैवाक्षपराजितः ।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ।।

(उद्योग पर्व ३५।३१)

सुधन्वा कहता है—"सौतवाली स्त्री, जुए में हारे हुए जुआरी और भार ढोने से व्यथित शरीर वाले मनुष्य की रात में जो स्थिति होती है, वही स्थिति उल्टा न्याय देने वाले वक्ता की भी होती है ।

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ।।
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ।।

(उद्यो० ३५।३३–३४)

"(अपने स्वार्थ के वशीभूत हो) पशु के लिए झूठ बोलने से पांच, गौ के लिए झूठ बोलने से दस, घोड़े के लिये असत्य भाषण करने पर सौ पीढ़ियों, और मनुष्य के लिए झूठ बोलने पर हजार पीढ़ियों को नरक में गिराता है । स्वर्ण के लिए झूँठ बोलने वाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियों को नरक में गिराता है । पृथ्वी तथा स्त्री के लिये झूठ कहने वाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्री के लिये कभी झूठ न बोलना ।'

२. प्रह्लाद की न्याय-परायणता-

यद्यपि विरोचन (प्रह्लाद के पुत्र) और सुधन्वा में प्राणों की बाजी लग चुकी थी, तथापि प्रह्लादजी अपने पुत्र के विरुद्ध निर्णय देते हुए कहते हैं:—

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः ।।

(उद्योगपर्व ३५।३५)

"विरोचन ! सुधन्वा के पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ हैं, इनकी माता तुम्हारी माता से श्रेष्ठ हैं; अतः तुम आज सुधन्वा के द्वारा जीते गये।"

३. राजा सगर की न्याय-परायणता–

राजा सगर का पुत्र असमञ्जस् प्रजा के बालकों को सरयू नदी में फेंक देता था। प्रजा को आर्त पुकार से पिघलकर राजा सगर अपने मन्त्री को आदेश देते हैंः—

असमञ्जोभयाद् घोरात् ततो नस्त्रातुमर्हसि।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ।।
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत्।
असमञ्जाः पुरादय सुतो मे विप्रवास्यताम्।
यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम्।

(वनपर्व १०७।४२-४४½)

'अतः असमञ्जस् के घोर भय से आप हमारी रक्षा करें'- पुरवासियों का यह भयंकर वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ सगर दो घड़ी तक अनमने बैठे रहे। फिर मन्त्रियों से इस प्रकार बोले— "आज मेरे पुत्र असमञ्जस् को मेरे घर से बाहर निकाल दो। यदि तुम्हें मेरा प्रिय कार्य करना है तो मेरी इस आज्ञा का शीघ्र पालन होना चाहिये।"

४. अन्याय का न्याय के समान दिखाई देना–

सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नय संकाशो हृदयान्नापसर्पति ।।

(उद्योग पर्व १४३।४७)

श्री कृष्णजी कहते हैं—'तात ! जब समस्त प्राणियों का विनाश निकट आता है तब अन्याय भी न्याय के समान प्रतीत होकर हृदय से निकल नहीं पाता है।'

२०—सदाचार (आचार)

१. सदाचार का महत्त्व—

आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(उद्योग पर्व ११३।१५)

नारदजी कहते हैं—"आचार ही धर्म को सफल बनाता है, आचार ही धन-रूपी फल देता है, आचार से ही मनुष्य को सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणों का नाश कर देता है।"

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
(अनुशासन पर्व १०४।६)

भीष्मजी कहते हैं—"सदाचार से ही मनुष्य को आयु (दीर्घायु) की प्राप्ति होती है, सदाचार से ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचार से ही उसे इहलोक और परलोक में भी कीर्ति की प्राप्ति होती है।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(अनुशासन पर्व १०४।१५४)

'सदाचार ही कल्याण का जनक और सदाचार ही कीर्ति को बढ़ाने वाला है। सदाचार से आयु की वृद्धि होती है और सदाचार ही बुरे लक्षणों का नाश करता है।

सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(अनुशा० १०४।१३)

"सर्व प्रकार के सब लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और दोष-दृष्टि से रहित होता है, वह सौ वर्षों तक जीता है।

२. सदाचार क्या है ?

आचाराज्जाजले प्राज्ञः क्षिप्रं धर्ममवाप्नुयात्।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोहचेतसा॥

(शान्ति पर्व २६२।२१)

तुलाधार कहता है—जाजले! जो जितेन्द्रिय पुरुष अपने चित्त में दूसरों के प्रति द्रोह न रखकर, इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा पालित आचार को अपने आचरणों में लाता है, वह विद्वान् वेद-बोधित सदाचार का पालन करने से शीघ्र ही धर्म के रहस्य को जान लेता है।'

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

(शान्ति पर्व २५९।२०)

भीष्मजी कहते हैं—"मनुष्य दूसरों द्वारा किये हुए जिस व्यवहार को अपने लिए वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरों के प्रति भी वह वैसा वर्ताव न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो बर्ताव अपने लिए अप्रिय है, वह दूसरों के लिए भी प्रिय नहीं हो सकता।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत्तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥

(शान्ति पर्व २५९।२२)

"जो स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरों के प्राण कैसे ले सकता है ? मनुष्य अपने लिए जो-जो सुख-सुविधा चाहे वही दूसरों के लिए भी सुलभ कराने की बात सोचे।"

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् ।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥

(अनुशा० पर्व १०४।१४४)

"नरश्रेष्ठ ! माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा का अविलम्ब पालन करना चाहिये। इनकी आज्ञा हितकर है या अहितकर, इसका विचार नहीं करना चाहिये।"

अभिवादयीत वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात् ॥

(अनुशापर्व १०४।६५)

"इसलिये जब कोई वृद्ध पुरुष अपने पास आवे, तब उसे प्रणाम करके बैठने को आसन दे और स्वयं हाथ जोड़कर उसकी सेवा में उपस्थित रहे। फिर जब वह जाने लगे, तब उसके पीछे पीछे कुछ दूर तक जाय।"

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम् ॥

(अनुशासन पर्व १०४।३१)

"दूसरों के मर्म पर आघात न करे। क्रूरतापूर्ण बात न बोले, औरों को नीचा न दिखावे, जिसके कहने से दूसरों को उद्वेग होता हो, वह रुखाई से भरी हुई बात पापियों के लोक में ले जाने वाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः ।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ।।

(अनुशासन पर्व १०४।१४२)

"बिना बुलाये कहीं न जाय, परन्तु यज्ञ देखने के लिये मनुष्य बिना बुलाये भी जा सकता है। भारत! जहाँ अपना आदर न होता हो, वहाँ जाने से आयु का नाश होता है।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ।।

(अनुशा० पर्व १०४।२०–२१)

"किसी भी वर्ण के पुरुष को कभी भी पराई स्त्री से संसर्ग नहीं करना चाहिये। परस्त्री सेवन से मनुष्य की आयु जल्दी ही समाप्त हो जाती है। संसार में परस्त्रीगमन के समान पुरुष की आयु को नष्ट करने वाला दूसरा कोई कार्य नहीं है।

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥

(शान्तिपर्व २७८।४)

न नेत्र से, न मन से और न वाणी से ही वह दूसरों के दोष देखे, सोचे या कहे। किसी के सामने या परोक्ष में पराये दोष की चर्चा कहीं न करे।"

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो ।।

(आदि ३४।२)

गरुड़ जी इन्द्र से कहते हैं—"शतक्रतो! साधु पुरुष स्वेच्छा से अपने बल की स्तुति और अपने ही मुख से अपने गुणों का बखान अच्छा नहीं मानते।"

३. सदाचार का फल—

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत् ।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमपिपूजयेत् ॥

(अनुशासन पर्व ४८।४८)

भीष्म जी कहते हैं—'ऊँची जाति का मनुष्य भी यदि उत्तमशील अर्थात् आचरण से हीन हो तो उसका सत्कार न करे और शूद्र भी यदि धर्मज्ञ और सदाचारी हो तो उसका विशेष आदर करना चाहिये ।'

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम ।
सुवृत्ताद् यो न चलेत शास्त्रचक्षुः समानवः ॥

(शान्तिपर्व २९५।३१)

पराशर जी कहते हैं—'नरश्रेष्ठ ! मनुष्य सुख में हो या दुःख में, जो सदाचार से कभी विचलित नहीं होता, वही शास्त्र का ज्ञाता है ।'

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम् ।
धर्मात्मा लभते कीर्ति प्रेत्य चेह यथासुखम् ॥

(शान्ति पर्व २७६।१३)

जनक जी माण्डव्य मुनि से कहते हैं—'जो अपने सदाचार को चन्द्रमा के समान विशुद्ध, उज्ज्वल एवं निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इस लोक और परलोक में कीर्ति एवं उत्तम सुख पाता है ।'

---

२१. शील

१. शील क्या है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥
तत्तुकर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥

(शान्ति पर्व १२४।६६,६७,६८)

धृतराष्ट्र प्रह्लादजी की उक्ति दुर्योधन से कहते हैं—"मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सब पर दया करना और यथाशक्ति दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं । अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरों के लिये हितकर न हो अथवा जिसे करने में संकोच का अनुभव होता हो, उसे किसी तरह नहीं करना चाहिये । जो कर्म जिस प्रकार करने से भरी सभा में मनुष्य की प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिये । कुरुश्रेष्ठ ! यह तुम्हें थोड़े में शील का स्वरूप बताया गया है ।"

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिपः ॥

(शान्ति पर्व १३२।१३)

भीष्म जी कहते हैं—'नरेश्वर ! दूसरों की निन्दा करना या चुगली खाना यह दुष्टों का स्वभाव होता है । श्रेष्ठ पुरुष तो सज्जनों के समीप दूसरों के गुण ही गाया करते हैं ।'

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना॥

(वन पर्व ३२।५८)

देवी द्रौपदी कहती है—'मनुष्य कभी अपने आपका अनादर न करे—अपने आपको छोटा न समझे। जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती।'

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम्।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो॥

(आदि पर्व ३४।२)

गरुड़जी इन्द्र से कहते हैं—'शतक्रतो! साधु पुरुष स्वेच्छा से अपने बल की स्तुति और अपने ही मुख से अपने गुणों का बखान अच्छा नहीं समझते।'

२. शील ही सब धर्मों एवं लक्ष्मी की जड़ है—

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥

(शान्ति पर्व १२४।६२)

लक्ष्मी जी कहती हैं—"महाप्राज्ञ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी) ये सब सदा शील के ही आधार पर रहते हैं—शील ही इन सब की जड़ है। इसमें संशय नहीं है।'

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित्।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते॥

(शान्ति पर्व १२४।६९)

धृतराष्ट्र प्रह्लाद जी की उक्ति दुर्योधन को कहते हैं—'हे तात्! नरेश्वर! यद्यपि कहीं-कहीं शील-हीन पुरुष भी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं तथापि वे चिरकाल तक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़मूल सहित वे नष्ट हो जाते हैं।'

३. शीलवानों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं–

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्॥

(शान्ति पर्व १२४।१५)

धृतराष्ट्र दुर्योधन से कहते हैं—'इसमें संशय नहीं है कि शील के द्वारा तीनों लोकों पर विजय पाई जा सकती है। शीलवानों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है।

---

२२. श्रद्धा

१. मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुरूप ही होता है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

(गीता १७।३-४)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही सात्त्विक, राजस या तामस होता है। सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूत गणों को पूजते हैं।"

२. श्रद्धा का महत्व—❀

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ४।३९)

"जितेन्द्रिय, साधन-परायण, श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के—तत्काल ही—भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्ति को प्राप्त होजाता है।"

वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत ।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति ॥

(शान्तिपर्व २६४।९)

भीष्मजी कहते हैं—"भरतनन्दन ! यदि वाणी के दोष से मन्त्र के उच्चारण में त्रुटि रह जाय और मन की चंचलता के कारण इष्टदेवता का ध्यान आदि कर्म सम्पन्न न हो सके तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह वाणी और मन के दोष को दूर करके उस कर्म की रक्षा कर सकती है। परन्तु यदि श्रद्धा न होने के कारण कर्म में त्रुटि रह जाय तो वाणी और मन उस कर्म (मन्त्रोच्चारण और ध्यान) की रक्षा नहीं कर सकते।

श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।
भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषे ॥

(शान्तिपर्व २६४।१३)

"वास्तव में उदार का अन्न उसकी श्रद्धा के कारण पवित्र होता है और कंजूस का अश्रद्धा के कारण अपवित्र एवं नष्ट-प्राय समझा जाता है। उदार का ही अन्न भोजन करना चाहिये और कृपण श्रोत्रिय एवं केवल सूद-खोर का नहीं।

❀ **'श्रद्धा बिना धर्म नहीं होई।'** —रामचरित्रमानस

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम्।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले।
स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले।।

(शान्ति पर्व २६४।११)

"महाज्ञानी जाजलि! तुम इस पर श्रद्धा करो। तदनन्तर इसके अनुसार आचरण करने से तुम्हें परमगति की प्राप्ति होगी। श्रद्धा करने वाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्म का स्वरूप है। जाजले! जो श्रद्धा पूर्वक अपने धर्म पर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है।"

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥

(शान्ति पर्व ३१८।८८)

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व, शुद्र अथवा नीच वर्णों में उत्पन्न हुए पुरुष से भी यदि ज्ञान मिलता हो, तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्य को सदा उस पर श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्य में जन्म-मृत्यु का प्रवेश नहीं हो सकता।"

३. श्रद्धाहीन की गति—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४।४०)

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—"विवेकहीन और श्रद्धा-रहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशय-युक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक और न सुख ही है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७।२८)

"हे अर्जुन ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है वह सब 'असत्' कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोक में ही लाभदायक है और न मरने के बाद ही।"

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥

(शान्तिपर्व २६४।१५)

भीष्म जी कहते हैं—"अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पाप से छुटकारा दिलाने वाली है। जैसे सांप अपने पुराने केंचुल को छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पाप का परित्याग कर देता है।"

---

२३. विश्वास

१. विश्वास का महत्व—*

यस्मिन्नाश्वासते कश्चिद् यश्च नाश्वसिति क्वचित्।
न तौ धीराः प्रशंसन्तिनित्यमुद्विग्नमानसौ॥

(शान्तिपर्व १३८।५९)

---

* १. 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिश्वासा।'
२. बिनु बिश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं कि रामु।
राम कृपा बिन सपनेहूँ जीव न लह बिश्रामु॥
—रामचरितमानस

'जिस पर कोई भरोसा नहीं करता तथा जो किसी दूसरे पर स्वयं भी भरोसा नहीं करता, उन दोनों की धीर पुरुष कोई प्रशंसा नहीं करते हैं, क्योंकि उनके मन में सदा उद्वेग भरा रहता है।'

२. किन्तु शत्रु की उल्टी-सीधी बातों पर विश्वास करना उचित नहीं—

ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधु शुष्कतृणैर्यथा॥

(शान्तिपर्व १३९।७१)

'जैसे सूखे तिनकों से ढके हुए गड्ढे के ऊपर रक्खे हुए मधु को लेने जाने वाले मनुष्य मारे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग बैरी की झूठी या सच्ची बात पर विश्वास करते हैं, वे भी बेमौत मरते हैं।'

---

२४. समता *

१. समता ही 'योग' है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

*१—समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥

२—निन्दा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

—रामचरितमानस

भगवान् कृष्णजी कहते हैं—"हे धनञ्जय ! तू आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर, **समत्व ही योग कहलाता है।**"

२. सम्पूर्ण झगड़ों की जड़ भेदभाव ही है—

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः॥

(सभापर्व ४६।२८)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"इस प्रकार समतापूर्ण बर्ताव करते हुए मेरा अपने पुत्रों तथा दूसरों के प्रति भेदभाव नहीं होगा; **क्योंकि जगत् में लड़ाई झगड़े का मूल कारण भेदभाव ही है।**"

३. समता क्या है—

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"ज्ञानीजन विद्या और विनय-युक्त ब्राह्मण में तथा गो, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी सम-दर्शी होते हैं अर्थात् सब में एक ही आत्मा को देखते हैं।"

ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च।
निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः॥

(शान्ति पर्व १५८।३३)

भीष्मजी कहते हैं—"तात् ! जो लाभ में हर्ष से फूल नहीं उठते, हानि में व्यथित नहीं होते, ममता और अहंकार से शून्य हैं जो सर्वदा सत्त्वगुण में स्थित और समदर्शी होते हैं।"

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
(अनुशासन पर्व १४४।३४)

श्री महेश्वर उमादेवी से कहते हैं—"जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखकर सबसे मिलते तथा शत्रु और मित्र को भी सदा समान हृदय से अपनाते हैं, वे मानव स्वर्गलोक में जाते हैं।"

४. समताहीन व्यक्ति नष्ट हो जाता है—

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि ॥
(वन पर्व २५१।४)

शकुनि कहता है—"जो मनुष्य सहसा उत्पन्न हुए हर्ष अथवा शोक पर नियन्त्रण नहीं रखता, वह राज्यलक्ष्मी को पाकर भी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे मिट्टी का कच्चा बर्तन पानी में गल जाता है।"

५. समतावान व्यक्ति ही संसार में सबसे अधिक धनवान व सुखी है—

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥
(वन पर्व ३१३।१२१)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वों में सम है, वही सबसे बड़ा धनी है—(अर्थात् सबसे बड़ा सुखी है)।"

६. समत्वदर्शी सब पापों से दूर रहकर मुक्ति अथवा ब्रह्म-प्राप्त करता है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युजस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(गीता २।३८)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान कर उसके बाद युद्ध के लिये अर्थात् कर्तव्य पालन के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध अर्थात् कर्म करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

(गीता ४।२२)

"जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सदा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बंधता।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

(गीता ५।२०)

"जो पुरुष प्रिय को पाकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर-बुद्धि, संशय-रहित, ब्रह्म-वेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है।"

७. आदर्श समत्ववान् व्यक्ति—

१. युधिष्ठिर

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः।
(शान्ति पर्व ९।२५-२६)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"न तो जीवन का अभिनन्दन करूंगा, न मृत्यु से द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बाँह को बसूले से काटता हो और दूसरा दूसरी बाँह को चन्दन मिश्रित जल से सींचता हो तो न पहले का अमङ्गल सोचूँगा और न दूसरे की मङ्गल कामना करूंगा। उन दोनों के प्रति समान-भाव रक्खूंगा।

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषोनास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥
(वनपर्व ३१३।१३२)

युधिष्ठिर जी, यक्ष के यह कहने पर कि तुम अपने किसी एक भाई को जीवित करा सकते हो, अपनी सौतेली माता माद्री के पुत्र नकुल को ही जीवित कर देने की प्रार्थना करते हैं—"यक्ष! मेरे लिये जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री। उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओं के प्रति समान भाव ही रखना चाहता हूं। इसलिये नकुल ही जीवित हों।

२. तुलाधार वैश्य

नानुरुद्धये निरुध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम्।

तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ।।
नाहं परेषां कृत्यानि प्रशंसामि न गर्हये ।
आकाशस्येव विप्रेन्द्र पश्यंल्लोकस्य चित्रताम् ॥
इति मां त्वं विजानीहि सर्वलोकस्य जाजले ।
समं मतिमतां श्रेष्ठ सम लोष्टाश्मकाञ्चनम् ।।
यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाः सदा ।
देवैरपिहितद्वाराः सोपमा पश्यतो मम ॥

(शान्ति पर्व २६२।१०-१३)

तुलाधार कहता है—"मैं न किसी से अनुरोध करता हूं न विरोध ही करता हूँ और न कहीं मेरा द्वेष है, न किसी से कुछ कामना करता हूँ। समस्त प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है। मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्यों के लिये सम है। सबके लिये बराबर तौलती है। विप्रवर ! मैं आकाश को भाँति असङ्ग रहकर जगत् के कार्यों की विचित्रता को देखता हुआ दूसरों के कार्यों की न तो प्रशंसा करता हूं और न निन्दा ही। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ जाजले ! इस प्रकार तुम मुझे सब लोगों के प्रति समता रखने वाला और मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझने वाला जानो। जैसे अन्धे, बहरे और उन्मत्त (पागल) मनुष्य जिनके नेत्र, कान आदि द्वार देवताओं ने सदा के लिये वन्द कर दिये हैं, सदा केवल सांस लेते रहते हैं, मुझ द्रष्टा पुरुष की भी वैसी ही उपमा है (अर्थात् मैं देखकर भी नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता और विषयों की ओर मन नहीं ले जाता, केवल साक्षी रूप से देखता हुआ श्वास-प्रश्वास मात्र की क्रिया करता रहता हूं)।"

---

२५. आर्जव (सरलता) *

१. आर्जव (सरलता) का महत्त्व—

सर्ववेदेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे एते समे स्यातामार्जवं विशिष्यते ।।

(अनुशासन पर्व १४२।२९)

श्री महेश्वर पार्वतीजी से कहते हैं—"चारों वेदों में निष्णात (निपुण) होना और सब जीवों के प्रति सरलता का बर्ताव करना—ये दोनों एक समान समझे जाते हैं। अथवा सरलता का ही महत्व अधिक है।

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते ।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते ।।

(अनुशासन पर्व १४२।३०)

"सरलता को धर्म कहते हैं और कुटिलता को अधर्म। सरलभाव से युक्त मनुष्य ही यहाँ धर्म के फल का भागी होता है।"

२. आर्जव (सरलता) ही ब्रह्म-प्राप्ति एवं कुटिलता ही मृत्यु है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतवान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ।।

(आश्वमेधिक पर्व ११।४)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"धर्मराज! कुटिलता मृत्यु का

---

* अत्यधिक सरलता अथवा नम्रता की हानि बताते हुए भगवान् श्री राम ने 'रामचरितमानस' में कहा है—

टेढ़ जानि सब बंदइ काहू । बक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू ।।

स्थान है और सरलता ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। इस बात को ठीक-ठीक समझ लेना ही ज्ञान का विषय है। इसके विपरीत जो कुछ कहा जाता है, वह प्रलाप है। भला वह किसी का क्या उपकार करेगा ?"

---

२६. नम्रता (मृदुता)

१. नम्रता (मृदुता) का महत्त्व —

मृदुनैवमृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्यं मृदुनाकिंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ।।

(शान्ति पर्व १४०।६६)

भीष्मजी कणिक के वचन कहते हैं—"बुद्धिमान् कोमल उपाय से कोमल शत्रु का नाश करता है और कोमल उपाय से दारुण शत्रु का भी संहार कर डालता है। **कोमल उपाय ते कुछ भी असाध्य नहीं है; अतः कोमल ही अत्यन्त तीक्ष्ण है।**"

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ।।

(शान्ति पर्व ११३।१०)

गंगाजी समुद्र से कहती हैं—"वेंत समय को पहिचानता है, उसके अनुसार बर्ताव करना जानता है, सदा हमारे वश में रहता है, कभी उद्दण्डता नहीं दिखाता और अनुकूल बना रहता है। उसमें कभी अकड़ नहीं आती है, इसलिये उसे स्थान छोड़-कर यहाँ (समुद्र में) नहीं आना पड़ता है। **(इसी प्रकार जो नम्र होते हैं, उनका पतन नहीं होता)।**"

२. समयानुसार नम्र अथवा कठोर बनने से लाभ—

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयात कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ।।
(शान्ति पर्व १४०।६७)

भीष्मजी कहते हैं—"जो समय पर कोमल होता है और समय कठोर बन जाता है, वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है और शत्रु पर उसका अधिकार हो जाता है।"

---

२७. प्रत्युपकार * (कृतज्ञता) और कृतघ्नता

१. उपकारी का महत्त्व—

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति पूर्वोपकारिणा तुल्यः ।
एकः करोति हि कृते निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ।।
(शान्ति पर्व १३८।८२)

भीष्मजी कहते हैं—"कोई किसी के उपकार का कितना ही अधिक बदला क्यों न चुका दे, वह प्रथम उपकार करने

---

* (१) पाण्डवों का प्रत्युपकार

पाण्डव वनवास के समय एक ब्राह्मण परिवार में रह रहे थे। उस नगरी से दूर एक घने जंगल में एक भयंकर नरभक्षी 'वक्र' नामक राक्षस रहता था। वहाँ का प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आने पर उसका भोजन लेकर जाता और इस प्रकार वह स्वयं भी उसका भोजन बन जाता था। एक दिन इसी परिवार की बारी आई। ब्राह्मण-ब्राह्मणी बड़े दुःखी थे। उनके एक नन्हा बालक तथा एक छोटी पुत्री थी। ब्राह्मण-ब्राह्मणी में से जो कोई राक्षस का भोजन लेकर जाता,

वाले के समान शोभा नहीं पाता है; क्योंकि एक तो किसी के उपकार करने पर बदले में उसका उपकार करता है; परन्तु दूसरे ने बिना कारण के ही उसकी भलाई की है।"

वह निश्चित रूप से मारा जाता। ब्राह्मण के मारे जाने पर परिवार की जीविका की कठिनाई आती और ब्राह्मणी की मृत्यु से छोटे बच्चों के पालन-पोषण की समस्या उपस्थित होती थी। ब्राह्मण-ब्राह्मणी और उनकी पुत्री तीनों में से प्रत्येक अपने आप को राक्षस का भोजन लेकर जाने का आग्रह कर रहे थे।

जब कुन्ती को ब्राह्मण-परिवार पर आये हुए कष्ट का पता चला, तो उसने कहा—"मेरे पांच पुत्र हैं, उनमें से एक आपके लिए उस पापी राक्षस की बलि-सामग्री लेकर चला जायेगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"मैं अपने जीवन की रक्षा के लिए कभी भी किसी तरह ऐसा नहीं कर सकता। देवि! महामूढ और अधर्मी भी अपनी रक्षा के लिए अतिथि का प्राणनाश नहीं करते।"

कुन्ती ने ब्राह्मण को यह कह कर कि 'वह राक्षस मेरे पुत्र का विनाश करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है' किसी प्रकार ब्राह्मण परिवार को अपने पुत्रों में से एक को राक्षस के पास भेजने को राजी कर लिया।

सन्ध्या को युधिष्ठिर के आपत्ति करने पर उसने कहा—"पुत्र! इस घर में हम बड़े सुख से रहे हैं। हमारा इतना आदर सत्कार हुआ है कि हमने अपने पिछले दु:खों को भी भुला दिया है। ब्राह्मण के इस उपकार से उऋण होने का यही एक उपाय मुझे दिखाई दिया। मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार कभी नष्ट न हो अर्थात् जो उपकारी के उपकार को भुला न दे और उसका बदला कई गुना अधिक प्रत्युपकार करके चुकावे। बेटा! इससे दो लाभ होंगे—एक तो ब्राह्मण

(आगे भी देखिये)

२. प्रत्युपकार (कृतज्ञता) मानवता है—

एतवान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन् न नश्यति।
यावन्न कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः॥
(आदि पर्व १५६।१४)

कुन्ती देवी उपकारी ब्राह्मणकुल की रक्षा के लिये भीमसेन को बकवध हेतु प्रोत्साहित करती हुई कहती हैं—"तात्!

का ऋण चुक जावेगा, दूसरे ब्राह्मण और पुरवासियों की रक्षा होने के कारण महान् धर्म का पालन हो जायगा।"

इस प्रकार भीमसेन राक्षस का भोजन लेकर गया और उस राक्षस का काम तमाम करके लौटा। इस सम्वाद को पाकर नगर निवासियों को परमानन्द प्राप्त हुआ।

(२) कर्ण की कृतज्ञता

जिस समय कुरुवंशी राजकुमारों के शस्त्र-संचालन की परीक्षा हो रही थी, उस समय अकस्मात् कर्ण ने रङ्गभूमि में प्रवेश करके अर्जुन को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा। दोनों को द्वन्द्व-युद्ध के लिए तैयार देख कृपाचार्य जी ने द्वन्द्व-युद्ध को टालने की गरज से कहा—'कर्ण, कुन्ती देवी के पुत्र पाण्डुनन्दन अर्जुन तुम्हारे से द्वन्द्व-युद्ध करेंगे! महाबाहो, इसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता तथा कुल का परिचय दो। इतना जान लेने के बाद ही निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे या नहीं।'

कर्ण का चेहरा उतरा हुआ देखा तो दुर्योधन ने कहा—'आचार्य! यदि अर्जुन राजा से भिन्न पुरुष के साथ युद्ध नहीं करना चाहते तो मैं कर्ण को इसी समय अङ्ग देश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूं।'

इस पर कर्ण ने दुर्योधन का महान् आभार माना और अन्तिम श्वास तक उससे मित्रता निभाने का प्रण किया और उसे निभाया भी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि 'तुम कुन्तीदेवी के ज्येष्ठपुत्र हो, राज्य के अधिकारी तुम्हीं बनोगे, पाँचों पाण्डव तुम्हारी सेवा करेंगे ।'--इस प्रकार विशाल साम्राज्य के लोभ से भी दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ा.

(३) मयासुर की कृतज्ञता ७१/२)

खाण्डव-दाह के अनन्तर मयासुर ने भगवान् श्रीकृष्ण के पर्श्व बैठे हुए अर्जुन से कहा--"कुन्ती-नन्दन ! आपने अत्यन्त क्रोध में भरे हुए इन भगवान् श्रीकृष्ण तथा अग्नि देव से भी मेरी रक्षा की है । अतः बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूं ?"

अर्जुन ने कहा—"असुरराज ! तुमने इस प्रकार की कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकार का मानो सारा बदला चुका दिया । तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम जाओ । मुझ पर प्रेम बनाये रखना ।"

मयासुर ने कहा—"प्रभो ! आपने जो बात कही है, वह आप जैसे महापुरुषों के अनुरूप ही है, परन्तु मैं बड़े प्रेम से आपके लिए कुछ करना चाहता हूँ । मैं दानवों का विश्वकर्मा एवं शिल्प विद्या का महान् पण्डित हूँ । अतः मैं आपके लिए किसी वस्तु का निर्माण करना चाहता हूँ ।"

अर्जुन ने कहा--' मयासुर ! तुम मेरे द्वारा अपने को प्राण-संकट से मुक्त हुआ मानते हो और इसीलिए कुछ करना चाहते हो; ऐसी दशा में मैं तुमसे कोई काम नहीं करा सकूंगा । साथ ही मैं तुम्हारा संकल्प व्यर्थ कर तुम्हारा दिल भी तोड़ना नहीं चाहता । इसलिए तुम भगवान् श्री कुष्ण का कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जायगा ।"

भगवान् श्री कृष्ण के आदेशानुसार मय दानव ने महाराज युधिष्ठिर के लिए एक ऐसे सभा-भवन का निर्माण कर अपनी कृतज्ञता का प्रमाण दिया, जिसकी जोड़ का भवन अखिल ब्रह्माण्ड में ढूँढने पर भी दिखायी नहीं दे सकता था ।

जिसके प्रति किया हुआ उपकार बदला चुकाये बिना नष्ट नहीं होता, वही पुरुष है। दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भो अधिक उस मनुष्य का प्रत्युपकार करदे।"

यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत् ।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥

(दाक्षिणात्य प्रति विराट० अध्याय १६)

युधिष्ठिर जी भीमसेन से कहते हैं—"जिस हरे वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय लेकर रहा जाय, उसके किसी एक पत्ते से भी द्रोह नहीं करना चाहिये। उसके पहले के उपकारों को सदा याद रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिये।"

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥

(वन पर्व २८।२६)

प्रह्लाद जी कहते हैं—"जिसने पहिले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध हो जाय, तो भी पहिले का उपकार स्मरण करके उस अपराधी के उस अपराध को तुम्हें क्षमा कर देना चाहिये।"

नार्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात् ।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥

(अनुशासन ५।२६)

शुक इन्द्रदेव से कहता है—"सहस्राक्ष ! आप इस वृक्ष को मुझ (तोते) से छुड़ाने के लिये प्रयत्न न कीजिये। जब यह समर्थ था, तब मैंने दीर्घकाल से इसी के आश्रय में रहकर जीवन धारण किया है और आज जब यह शक्ति हीन हो गया, तब इसे छोड़कर चल दूं—यह कैसे हो सकता है ?" **(इस प्रकार पूर्व उपकारी को विपत्ति के समय छोड़ना उचित नहीं।)**

३. कृतघ्नता (उपकारी का उपकार न मानना) महा-पाप है—

विदिता मे महाबाहो धर्माणां परमां गतिः ।।
ब्रह्महत्या फलं तस्य यैः कृतं नावबुध्यते ।

(द्रोण पर्व १८३।२७½)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"महाबाहो ! मुझे धर्म की श्रेष्ठ गति विदित है । जो मनुष्य किसी के किये हुए उपकार को याद नहीं रखता, उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है ।"

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।।

(शान्ति पर्व १७३।२०)

भीष्मजी कहते हैं—"कृतघ्न को कैसे यश प्राप्त हो सकता है ? उसे कैसे स्थान और सुख की उपलब्धि हो सकती है ? कृतघ्न विश्वास के योग्य नहीं होता । कृतघ्न के उद्धार के लिये शास्त्रों में कोई प्रायश्चित नहीं बताया गया है ।"

कृतघ्नो मित्रघाती च शृगालवृकजातिषु ।
कृतघ्नः पुत्रघाती च स्थावरेष्वथ तिष्ठति ।।

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

श्री महेश्वर कहते हैं—"कृतघ्न और मित्रघाती मनुष्य सियार और भेड़ियों को योनि में जन्म लेता है । दूसरों के उपकार को न मानने वाला और पुत्रघाती मनुष्य स्थावर योनि में जन्म लेता है ।"

२८. दम *

१. दम क्या है-

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता ।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ।।

(शान्ति पर्व १३०।१५-१६)

भीष्मजी कहते हैं—"क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्य-वादिता, सरलता, इन्द्रियजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, सन्तोष, प्रिय वचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरों के दोष न देखना—इन सद्गुणों का उदय होना ही **दम** कहलाता है।"

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ।।

(शान्ति पर्व २४६।११)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—मनुष्य नींद के समय जैसे सुख से सोता है—सुषुप्ति के सुख का अनुभव करता है—अथवा जैसे वायुरहित स्थान में जलता हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, एक तार जला करता है, उसी प्रकार मन कभी चंचल न हो, यह उसके प्रसाद का अर्थात् चित्त की परम-शुद्धि का लक्षण है।"

---

*ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रिय संयम के विषय में इस ग्रन्थ के तृतीय भाग "दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्राप्ति के उपाय" में देखियेगा।

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ।।

(वन० पर्व २।३१)

शौनकजी कहते हैं—"विषयों के प्राप्त न होने पर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्य को प्राप्त होता है। उसके मन में किसी के प्रति द्वेषभाव न होने के कारण वह निर्वैर तथा बन्धन-मुक्त होता है।"

२. साधन–

तस्मात् तदभिघाताय कर्म कुर्यादकल्मषम् ।
रजस्तमश्च हित्वेह यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥

(शान्ति पर्व २१४।२७)

भीष्मजी कहते हैं—'अतः मन को वश में करने के लिए मनुष्य को निर्दोष एवं निष्काम कर्म करने चाहिये। ऐसा करने से वह रजोगुण और तमोगुण से छूटकर इच्छानुसार गति को प्राप्त कर सकता है।'

३. दम (संयम) से लाभ–

युज्यन्ते सर्वकामैर्हि दान्ताः सर्वत्र पाण्डव ।
स्वर्गे यथा प्रमोदन्ते तपसा विक्रमेण च ।।
दानैर्यज्ञैश्च विविधैस्तथा दान्ताः क्षमान्विताः ।

(अनुशासन पर्व ७५।१३½)

भीष्मजी कहते हैं—'पाण्डुनन्दन ! जितेन्द्रिय-पुरुष सर्वत्र सम्पूर्ण मनचाही वस्तुएं प्राप्त कर लेते हैं। वे अपनी तपस्या, पराक्रम, दान तथा नाना प्रकार के यज्ञों से स्वर्गलोक में आनन्द भोगते हैं। इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुष क्षमाशील होते हैं।'

मनः पूर्वांगमा धर्मा अधर्माश्च न संशयाः ।
मनसा बद्ध्यन्ते चापि मुच्यते चापि मानवः ।।
निगृहीते भवेत् स्वर्गो विसृष्टे नरको ध्रुवः ।

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्य प्रति अध्याय १४५)

भगवान् महेश्वर कहते हैं—'इसमें सन्देह नहीं कि धर्म अधर्म पहिले मन में ही आते हैं। मन से ही मनुष्य बंधता है और मन से ही मुक्त होता है । यदि मन को वश में कर लिया जाय, तब तो स्वर्ग मिलता है और उसे खुला छोड़ दिया जाय तो नरक-प्राप्ति अवश्यम्भावी है ।'

२९. काम

(विषयों का उपभोग या उनकी इच्छा)*

१. नरक का प्रमुख द्वार—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।।

(गीता १६।२१)

---

*(१) तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ।।
लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि ।
क्रोध कें परुष बचन मुनिबर कहहिं बिचारि ।।

(२) ....काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ।।
रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा । थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा ।।

श्री कृष्णजी कहते हैं—"काम, क्रोध और लोभ–ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसको अधोगति में लेजाने वाले हैं । अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिये।"

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
नयन्ति ह्यपथं नार्यः कामक्रोधवशानुगम् ।।

(अनुशासन पर्व ४८।३७)

भीष्मजी कहते हैं—"संसार में कोई मूर्ख हो या विद्वान्, काम और क्रोध के वशीभूत हुए मनुष्य को नारियां अवश्य ही कुमार्ग पर पहुंचा देती हैं।"

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

(गीता २।६२–६३)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामनाओं में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यन्त मूढ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम

---

(३) सुरपति बसइ बाहँ बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई ।।
—रामचरितमानस

(४) ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रिय संयम के आदर्शों—भीष्म, अर्जुन, लक्ष्मण और श्री हनुमानजी—तथा 'काम ही पतन का कारण है' के उदाहरणों–महाराज नहुष, महाराज पाण्डु और सुन्द-उपसुन्द की कथा को 'दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्राप्ति के उपाय' में देखने की कृपा करें।

हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से वह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

"रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, उसको ही तू इस विषय में वैरी जान। अर्थात् मनुष्य को विना इच्छा पापों में नियुक्त करने वाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, बल्कि यह काम ही मनुष्य को नाना प्रकार के भोगों में आसक्त करके उसे बलात्कार से पापों में प्रवृत्त करता है; इसलिए यह महान् पापी है।"

२. पूर्ति से यह कभी शांत नहीं होता, बल्कि बढता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
पृथ्वीरत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वामिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

(आदि पर्व ७५।५०-५१)

महाराज ययाति कहते हैं—"विषय अथवा इच्छा कभी उपभोग से शान्त नहीं हो सकती। घी की आहुतियां डालने से अधिक प्रज्वलित होने वाली आग की तरह वह और भी बढ़ती जाती है। **रत्नों से भरी हुई सारी पृथ्वी, संसार का सारा स्वर्ण, सारे पशु और सुन्दर स्त्रियां किसी एक पुरुष को मिल जायं तो वे भी सबके सब उसके लिए पर्याप्त नहीं होंगे वह और भी पाना चाहेगा—ऐसा समझकर शान्ति धारण करे।**"

३. शांति का एक मात्र मार्ग—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।
(गीता २।७०–७१)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे सब ही भोग जिस स्थिति-प्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार पैदा किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता-रहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित हुआ विचरता है अर्थात् सम्पूर्ण कार्य करता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है।"

३०—क्रोध और क्षमा

१—क्रोध*

१. क्रोध से सर्वनाश—

(क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञतपांसि च ।
तस्मादक्रोधने यज्ञस्तपो दानं महाफलम् ॥

*१—लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल ।
यहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं विस्व प्रतिकूल ॥
२. खोजत कतहुं मिलइ नहिं धूरी । करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी ।
—रामचरितमानस
३. केहि क हृदय क्रोध न दाहा ।

पुत्रभृत्यसुहृन्मित्रभार्याधर्मश्च सत्यता ।
तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम् ।।)
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत्प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ।।
(आदि पर्व ७९।५-७)

गुरु शुक्राचार्यजी कहते हैं—"क्रोधी के यज्ञ, दान और तप—सभी निष्फल होते हैं, अतः जो क्रोध नहीं करता, उसी पुरुष के यज्ञ, तप और दान महान् फल देने वाले होते हैं। जो स्वभाव से ही क्रोधी हैं, उनके पुत्र, भृत्य, सुहृद्, मित्र, पत्नी, धर्म और सत्य—ये सभी निश्चय ही उसे छोड़कर दूर चले जायेंगे। अबोध बालक और बालिकाएं अज्ञानवश आपस में जो वैर विरोध करते हैं, उसका अनुकरण समझदार मनुष्यों को नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये नादान बालक दूसरों के बलाबल को नहीं जानते।"

क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ।।
(आदि पर्व ४२।८)

शमीक ऋषि अपने पुत्र शृंगी ऋषि से कहते हैं—"क्रोध प्रयत्नशील साधकों के अत्यन्त दुःख से उपार्जित धर्म का नाश कर देता है। फिर धर्महीन मनुष्यों को अभीष्ट गति नहीं मिलती है।"

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ।।
(वन पर्व २९।४)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"क्रोधी मनुष्य पाप कर सकता है, क्रोध के वशीभूत मानव गुरुजनों की भी हत्या कर सकता है और क्रोध में भरा हुआ पुरुष अपनी कठोर वाणी द्वारा श्रेष्ठ मनुष्यों का भी अपमान कर देता है।"

एकमाशीविशो हन्ति शस्त्रणैकश्च वध्यते।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः॥
(आदिपर्व ८१।२५)

राजा ययाति कहता है—'भद्रो ! सर्प एक को ही मारता है, शस्त्र से भी एक ही व्यक्ति का वध होता है, परन्तु क्रोध में भरा हुआ ब्राह्मण (विद्वान्) समस्त राष्ट्र और नगर का भी नाश कर सकता है।"

अमर्षजो हि संतापः पावकाद् दीप्तिमत्तरः।
येनाहमभिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये॥
(वन पर्व ३५।११)

भीमसेन कहता है—"क्रोध से जो सन्ताप होता है, वह आग से भी बढ़कर जलाने वाला है, जिससे संतप्त होकर मुझे न तो रात में नींद आती है और न दिन में।"

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ॥
(वन पर्व २९।१)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"परम बुद्धिमती (द्रौपदी) ! क्रोध ही मनुष्यों को मारने वाला है और क्रोध ही यदि जीत लिया जाय तो उन्नति करने वाला है। समझ लो कि उन्नति और अवनति दोनों का ही मूल क्रोध है (क्रोध को जीतने से उन्नति और उसके वशीभूत होने से अवनति होती है)।"

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २।६३)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—'क्रोध से अत्यन्त मूढ भाव उत्पन्न होता है, मूढभाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि का नाश हो जाने से पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।"

रोषस्य हि वशं गत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।
तथा शक्रप्रतिस्पर्धी हतो रामेण संयुगे ।।
(शान्ति पर्व ३६०।१५)

नागराज कहते हैं—"इन्द्र से भी टक्कर लेने वाला प्रतापी दशानन रावण रोष के ही अधीन होकर युद्ध में श्रीरामचन्द्रजी के हाथ से मारा गया।

जामदग्न्येन रामेण सहस्र नयनोपमः ।
संयुगे निहतो रोषात् कार्तवीर्यो महाबलः ॥
(शांति पर्व ३६०।१७)

"महाबली राजा कार्तवीर्य अर्जुन इन्द्र के समान पराक्रमी था, परन्तु रोष ही के कारण जमदग्निनन्दन परशुराम के द्वारा युद्ध में मारा गया।"

२. दुर्बलों का शस्त्र क्रोध एवं शक्तिशालियों का क्षमा है-

शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः ।
दुर्जनः सुजनं द्वेष्टि दुर्बलो बलवत्तरम् ।।
(दाक्षिणात्यप्रति आदि पर्व अध्याय ८७)

राजा ययाति कहता है—"शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है। शक्तिहीन पुरुष सदा क्रोध करता है। दुष्ट मनुष्य सदा साधु पुरुष से और दुर्बल बलवान् से द्वेष रखता है।"

३. क्रोध का शमन कल्याणकारी होता है—

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ।'
(शान्ति पर्व २६६।७४)

महर्षि गौतम कहते हैं—'जो चिरकाल तक रोष को अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोष पूर्वक किये जाने

वाले कर्म को देर तक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप कराने वाला हो।"

> आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतोभयात्।
> क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥
>
> (वन पर्व २९।९)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"क्रोध करने वाले पुरुष के प्रति जो वदले में क्रोध नहीं करता, वह अपने को और दूसरों को भी महान् भय से बचा लेता है। वह अपने और पराये दोनों के दोषों को दूर करने के लिये चिकित्सक बन जाता है।"

२—क्षमा

१. क्षमा का महत्त्व—

> क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
> य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥
> क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
> क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥
> अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च।
> अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम्॥
> क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
> क्षमा सत्यं सत्वतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः॥
>
> (वन पर्व २९।३६–३८,४०)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो इस प्रकार जानता है, वह सब कुछ क्षमा करने योग्य हो जाता है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, और क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमा नें सम्पूर्ण जगत् को धारण कर रक्खा है। क्षमा शील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषों से भी

ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं। क्षमा तेजस्वी पुरुषों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषों का सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा शम (मनोनिग्रह या शान्ति) है।"

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥
(उद्योग पर्व ३३।५०)

विदुरजी कहते हैं—"इस जगत् में क्षमा वशीकरण रूप है। भला, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता है ? जिसके हाथ में शान्ति रूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे ?

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च।
क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक्॥
(शान्ति पर्व १६२।१४)

भीष्मजी कहते हैं—"जो सहने योग्य और न सहने योग्य व्यवहारों तथा प्रिय एवं अप्रिय वचनों को भी समान रूप से सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है। सत्यवादी पुरुष को ही उत्तम रीति से क्षमाभाव की प्राप्ति होती है।"

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रस्य प्रदानवान्॥
(उद्योग पर्व ३३।५८)

विदुरजी कहते हैं—"राजन्! ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग से भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला और निर्धन होने पर भी दान देने वाला।"

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥
(उद्योग पर्व ३६।५)

दत्तात्रेय जी परमहंस के रूप में साध्यों से कहते हैं—"दूसरे से गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। (गाली को)

सहन करने वाले का रोका हुआ क्रोध ही गाली देने वाले को जला डालता है और उसके पुण्य को भी ले लेता है।"

तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।
यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ॥
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।

(वन पर्व २९।१६–१७½)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"दूरदर्शी विद्वान् जिसे तपस्वी कहते हैं, उसके भीतर क्रोध नहीं होता; यह निश्चित बात है। जो उत्पन्न हुए क्रोध को अपनी बुद्धि से दबा देता है, उसे तत्त्वदर्शी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं।"

क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥

(आश्वमेधिक पर्व दाक्षि० अध्याय ९२)

श्री भगवान् कहते हैं—"पाण्डुनन्दन ! समस्त तीर्थों में भी क्षमा सबसे बड़ा तीर्थ है। क्षमाशील मनुष्यों को इस लोक और परलोक में भी सुख मिलता है।"

२. क्षमाशील व्यक्तियों के उदाहरण (युधिष्ठिर, द्रौपदी और अर्जुन *)

परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरम् शतम् ।
परस्परविरोधेतु वयं पञ्च शतं तु ते ॥

(दाक्षि० वन पर्व अध्याय २४३)

---

* अर्जुन की क्षमाशीलता

(१)

द्रोणाचार्य की गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए जैसे महासिंह हाथियों के यूथपति को फाड़ने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार अर्जुन ने द्रुपद

धर्मराज युधिष्ठिर जी कौरवों को गन्धर्वों के हाथ से छुड़ाने हेतु अपने भाइयों को आदेश देते हुए कहते हैं--"दूसरों के द्वारा पराभव प्राप्त होने पर उनका सामना करने के लिये हम लोग एक सौ पाँच भाई हैं। आपस में विरोध होने पर ही हम पांच और वे सौ भाई हैं।"

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ।।

(वनपर्व २७१।४३)

को पकड़ लिया। पाञ्चाल सैनिक दसों दिशाओं में भाग गये। द्रुपद को पकड़ा हुआ देखकर कौरव पाञ्चाल नगरी का नाश करने लगे। परन्तु अर्जुन ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और कहा--"व्यर्थ हत्या करने से क्या लाभ ?"

भीमसेन से कहा--"भैया भीमसेन ! राजाओं में श्रेष्ठ द्रुपद कौरव-वीरों के सम्बन्धी है, अतः इनकी सेना का संहार न करो; केवल गुरु-दक्षिणा के रूप में द्रोण के प्रति महाराज द्रुपद को ही आदर पूर्वक दे दो।"

धन्य है, अर्जुन की शूरवीरता के साथ उनकी दयालुता और अधर्म से दूर रहने की भावना। सच्चे शूरवीर कभी निर्दय नहीं होते।

(२)

खाण्डव दाह के समय एक मय नामक राक्षस तक्षक के घर में रहता था। वह श्रीकृष्ण के चक्र से कहीं भागने का रास्ता न पाकर अर्जुन की शरण में आया और उसके पैरों में गिरकर कहने लगा--"रक्षा करो, रक्षा करो।" अर्जुन को उस पर दया आ गयी। श्रीकृष्ण जी ने भी अर्जुन की बात रखने को उस दानव को छोड़ दिया। अग्निदेव ने भी उसे जीवन-दान देना स्वीकार किया।

युधिष्ठिर जी महारानी द्रौपदी का हरण करने वाले जयद्रथ को क्षमा करते हुए अपने भाइयों से कहते हैं—"महाबाहो ! सिन्धुराज जयद्रथ यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा हैं, तथापि बहिन दुःशला (धृतराष्ट्र की पुत्री) और यशस्विनी माता गान्धारी को स्मरण करके उसका वध न करना।"

द्रौपदी चाब्रवीद् भीममपि प्रेक्ष्य युधिष्ठिरम्।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः॥

(वन पर्व २७२।१८)

उस समय द्रौपदी ने भी भीमसेन की ओर देख कर कहा—"आपने इसका (जयद्रथ का) सिर मूंड़कर पांच चोटियां रखदी हैं तथा यह महाराज का दास हो गया है; अतः इसे अब छोड़ दीजिये।"

३. क्रोध और क्षमा का समन्वय–

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम्॥

(वनपर्व २८।६)

प्रह्लादजी कहते हैं—"तात् ! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। इन दोनों के विषय में मेरा ऐसा ही निश्चय जानो, इसमें संशय नहीं है।

यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः॥

(वन पर्व २८।७)

"वत्स ! जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं। उनके सेवक, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति सभी उसका तिरस्कार करते हैं।"

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
सर्वं सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ।।
(वन पर्व २८।२४)

"जो मौका देखकर कोमल होता है और उपयुक्त अवसर आने पर भयंकर भी बन जाता है, वही इस लोक और परलोक में सुख पाता है।"

---

३१. अर्थ, धन अथवा लक्ष्मी *

१. अर्थ का महत्त्व–

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य बिना ह्यर्थं न सिद्धयति ।।
(शान्ति ८।१७)

अर्जुन कहते हैं—"नरेश्वर ! धन से ही धर्म, काम और स्वार्थ की सिद्धि होती है। लोगों के जीवन का निर्वाह भी बिना धन के नहीं होता।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥
(शान्ति पर्व ८।१९)

"जिसके पास धन होता है, उसी के बहुत से मित्र होते हैं, जिसके पास धन है, उसी के भाई-बन्धु हैं, संसार में जिसके पास धन है, वही पुरुष कहलाता है और जिसके पास धन है, वही पण्डित माना जाता है।"

---

*फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराई।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाई ।।
—रामचरितमानस

कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम् ।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥

(शान्ति पर्व १३०।५०)

भीष्मजी कहते हैं—"धन-संचय से ही धर्म, काम, लोक तथा परलोक की सिद्धि होती है। उस धन को धर्म से ही पाने की इच्छा करे, अधर्म से कभी नहीं।"

२. अर्थ से हानि—

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥

(आदि० १५६।२४)

वैशम्पायनजी एक ब्राह्मण की उक्ति बताते हुए कहते हैं—"धन की इच्छा सबसे बड़ा दुःख है; किन्तु धन प्राप्त करने में तो और भी अधिक दुःख है और जिसकी धन में आसक्ति हो गई है, उसे उस धन का वियोग होने पर इतना महान् दुःख होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है।"

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् ।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ।

(शान्ति पर्व २६।२०)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"जो धन के पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है; क्योंकि जो लोग दूसरों से द्रोह करते हैं, उन्हीं को धन प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है तथा वह मिला हुआ धन प्रकारांतर से प्रतिकूल ही होता है।"

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्ट चेतनः ।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥

(शान्ति पर्व १७६।१४)

भीष्मजी कहते हैं—"जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभ के आवेश में आकर अपनी विचार-शक्ति को खो बैठता है, टेढ़ी आंखों से देखता है, उसका मुँह सूखा रहता है, भौहें चढ़ी रहती हैं और वह पाप में ही मग्न रहा करता है।"

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यसे ॥

(उद्योग पर्व ३४।५३)

विदुरजी कहते हैं—"यों तो (मादक वस्तुओं के) पीने का नशा आदि भी नशा ही है, किन्तु ऐश्वर्य का नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्य के मद से मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होश में नहीं आता।'

३. अर्थ (धन) की अस्थिरता—

ममेयमिति मोहात् त्वं राजश्रियमभीप्ससि ।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषा स्थिरा सदा ॥

(शान्ति पर्व २२७।४५)

बलि इन्द्रदेव से कहते हैं—'तुम मोहवश जिस राज्य लक्ष्मी को 'यह मेरी है' ऐसा समझकर पाना चाहते हो, वह न तुम्हारी है, न हमारी है और न दूसरों की ही है। वह किसी के पास भी सदा स्थिर नहीं रहती।'

तस्माद् बुद्धयन्ति पुरुषा न हि तत् कस्यचिद्ध्रुवम् ।
श्रद्दधानस्ततो लोके दद्याच्चैव यजेत च ॥

(शान्ति पर्व २६।२७)

युधिष्ठरजी कहते हैं—'इसलिए बुद्धिमान् पुरुष यह समझते हैं कि धन कभी किसी के पास स्थिर होकर नहीं रहता; अतः श्रद्धालु मनुष्य को चाहिये कि वह उस धन का दान करे और उसे यज्ञ में लगावे।'

४. कौन धन उत्तम है–

न हि संचयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैः पुंभिरनीहार्थः प्रशस्यते ।।

(वन पर्व २।४८)

शौनकजी कहते हैं—'जिसके पास धन का संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता है । अतः धर्मात्मा पुरुष उसी धन की प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छा से न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो ।'

योऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् ।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ।।

(शान्ति पर्व २९२।१९)

पराशरजी कहते हैं—'धर्म का पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है । जो अधर्म से प्राप्त होता है, वह तो धिक्कार देने योग्य है । संसार में धन की इच्छा से शाश्वत धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिये ।

न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः ।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते ।।

(शान्ति पर्व २९४।२५)

'बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिये कि वह धर्म करने के लिए न्याय को त्याग कर पापमिश्रित मार्ग से धन का संग्रह न करें; क्योंकि उसे कल्याणकारी नहीं बताया गया है ।'

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम् ।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ।।

(अनुशासन पर्व १४४ । ३२)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—'गांव या घर के एकान्त स्थान में पड़े हुए पराये धन का जो कभी अभिनन्दन नहीं करते हैं, वे मानव स्वर्गगामी होते हैं ।'

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थ धर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सदा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥

(उद्योग पर्व ३३।७०)

विदुरजी कहते हैं--'तात् ! गृहस्थ धर्म में स्थित आप लक्ष्मीवान् के घर में चार प्रकार के मनुष्यों को सदा रहना चाहिये--अपने कुटुम्ब का बूढ़ा, संकट में पड़ा हुआ उच्च कुल का मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना सन्तान की बहिन।'

५. कौन धन* निकृष्ट है-

शमेन धर्मेण नयेन युक्ता य ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादाः।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढ़ा गच्छति पुत्रपौत्रान्॥

(सभा पर्व ७५।१०)

गान्धारी देवी धृष्टराष्ट्र से कहती हैं—'शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीति से युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिये। क्रूरतापूर्ण कर्मों से प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्ताव से बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र पौत्रों तक चली जाती है।'

यस्य चार्थार्थमेवार्थः सच नार्थस्य कोविदः।
रक्षेत् मृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः॥

(वन० ३३।२४)

भीम कहते हैं—"जिसका धन केवल धन के लिये ही है, दान आदि के लिये नहीं है, वह धन के तत्त्व को नहीं जानता।

---

*१. जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहज सहाय॥

२. राम बिमुख सम्पति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥

—रामचरितमानस

जैसे सेवक (ग्वालिया) वन में गौओं की रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धन का दूसरे के लिए रक्षक मात्र है।"

६. धर्म और अर्थ का समन्वय–

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे॥

(सभा पर्व ५।१९)

नारदजी युधिष्ठिर से पूछते हैं—'तुम धन के लोभ में पड़ कर धर्म को, केवल धर्म में ही संलग्न रहकर धन को अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस काम-भोग द्वारा धर्म और अर्थ दोनों को ही तो हानि नहीं पहुंचाते ? (अर्थात् धर्म, अर्थ और काम सब का समन्वय होना ही उत्तम है)।'

७. लक्ष्मी का निवास-स्थान–

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे॥

(अनुशासन पर्व ११।६)

देवी रुकमणीजी के पूछने पर लक्ष्मीजी कहती हैं— "देवि ! मैं प्रतिदिन ऐसे पुरुषों में निवास करती हूं, जो सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधन-तत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुण से युक्त हों।

स्वधर्मशीलेषु च धर्मविप्सुवृद्धोपसेवानिरते च दान्ते।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे क्षान्तासु दान्तासु तथा बलासु॥

(अनुशासन पर्व ११।१०)

"जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, बड़े-बूढ़ों की सेवा में तत्पर, जितेन्द्रिय, मन को वश में रखने वाले, क्षमाशील और सामर्थ्यशाली हैं, ऐसे पुरुषों में तथा क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय अबलाओं में भी मैं निवास करती हूं।

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषरणनित्ययुक्ते ॥
(अनुशासन पर्व ११।११)

"सदा वेदों के स्वाध्याय में तत्पर रहने वाले ब्राह्मणों, स्वधर्मपरायरण क्षत्रियों, कृषि कर्म में लगे हुए वैश्यों तथा नित्य सेवा-परायरण शूद्रों के यहां भी मैं सदा निवास करती हूं।

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्य युक्तासु गुरणान्वितासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्यारणशीलासु विभूषितासु॥
(अनुशापर्व ११।१३½)

"जो स्त्रियां सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेशभूषा के कारण देखने में प्रिय होती हैं, जो सौभाग्य-शालिनी, सद्गुरण-वतीं पतिव्रता एवं कल्यारणमय आचार-विचार करने वाली हैं, तथा जो सदा वस्त्राभूषणों से विभूषित रहती हैं, ऐसी स्त्रियों में मैं सदा निवास करती हूं।

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे न चापि चौरे न गुरुष्वसूये॥
(अनुशा० ११।७)

"जो पुरुष अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर तथा गुरुजनों के दोष देखने वाला हो, उसके भीतर मैं निवास नहीं करती हूं।

प्रकीर्णभाण्डामन वेक्ष्यकारिर्णी सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्॥
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि।
(अनुशा०पर्व ११।११½)

"जो घर के वर्तनों को सुव्यवस्थित रूप से न रखकर इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच समभकर काम नहीं करती हैं, सदा अपने पति के प्रतिकूल ही बोलती हैं, दूसरों के घरों में

घूमने-फिरने में आसक्त रहती हैं और लज्जा को सर्वथा छोड़ बैठती हैं, उनको मैं त्याग देती हूं।

पापामचोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयानामेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥

(अनुशा०पर्व ११।१२½)

"जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचार में तत्पर रहने वाली, अपवित्र, चटोर, धैर्यहीन, कलह-प्रिय, नींद में बेसुध होकर सदा खाट पर पड़ी रहने वाली होती है, ऐसी नारि से मैं सदा दूर ही रहती हूं।"

३२—लोभ*

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥

(वन पर्व ३१३।९२)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"क्रोध दुर्जय शत्रु है, **लोभ अनन्त व्याधि है** जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो, वही साधु है और निर्दयी मनुष्य को ही असाधु माना जाता है।"

---

* बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहै नाग अरि भागू ॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब सम्पदा चहै सिवद्रोही ॥
लोभी लोलुप कल कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई ॥
हरि पद बिमुख परमागति चाहा। तस तुम्हार लालचु नर नाहा ॥
ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न ऐहिं संसार ॥
—रामचरितमानस

मधुः यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान्॥

(स्त्री १।३७)

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—"जो केवल ऊँचे स्थानों पर लगे हुए मधु को देखकर वहां से गिरने की सम्भावना की ओर से आंख बन्द कर लेता है, वह उस मधु के लालच से नीचे गिरकर इसी तरह शोक करता है, जैसे आप कर रहे हैं।"

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते॥

(शान्ति पर्व १५८।२)

भीष्मजी कहते हैं—"नरेश्वर! पाप का जो अधिष्ठान है, उसे सुनो। एकमात्र लोभ ही पाप का अधिष्ठान है। वह मनुष्य को निगल जाने के लिए एक बड़ा ग्राह है। लोभ से ही पाप की प्रवृत्ति होती है।❀

❀ लोभ से किस प्रकार पतन होता है, इस सम्बन्ध में महाभारत में निम्न कथायें आती हैं:—

(१) राजा पुरुरवा—ये अपने बल-पराक्रम से उन्मत्त हो ब्राह्मणों के चीखते चिल्लाते रहने पर भी उनका सारा धन-रत्न छीन लेते थे। ब्रह्म-लोक से आकर सनत्कुमारजी ने उन्हें बहुत समझाया और ब्राह्मणों पर अत्याचार न करने का उपदेश दिया, किन्तु दुर्भाग्यवश वे उनकी शिक्षा ग्रहण न कर सके, क्योंकि वे लोभ के वशीभूत थे और बल के घमण्ड में आकर अपनी सारी विवेक-शक्ति खो बैठे थे। अन्त में महर्षियों ने उन्हें शाप दे दिया, जिससे वे नष्ट हो गये।

(२) राजा द्रुपद और द्रोणाचार्य की कथा—राजा द्रुपद ने महर्षि अग्निवेश के यहां शिक्षा पाते समय द्रोणाचार्यजी के साथ प्रतिज्ञा की थी कि जब मुझे राज्यसिंहासन प्राप्त होगा, तब राज्य के

सारे सुख और ऐश्वर्य को अपन दोनों मिलकर भोगेंगे । दरिद्रता के दुःख से दुःखी होकर जब द्रोणाचार्यजी अपनी पुरानी प्रीति को जगाने के लिये राजा द्रुपद के पास पहुंचे तो लोभवश आधा राज्य देना तो दूर रहा, वे उनका अपमान भी कर बैठे, क्योंकि मनुष्य लोभ के कारण अन्धा हो जाता है ।

इसका फल यह हुआ कि द्रुपद और द्रोणाचार्य में चिर-शत्रुता हो गयी और द्रोणाचार्यजी ने कौरव-पाण्डवों के राजकुमारों द्वारा गुरु-दक्षिणा के रूप में राजा द्रुपद को बन्दी रूप में ही पाकर सन्तोष की सांस ली ।

३—कुरर पक्षी की कथा—

सामिषं कुररं दृष्टवा वध्यमानं निरामिषैः ।
आमिषस्य परित्यागात् सुखमेधते ॥

(शान्ति १७८।९)

अर्थात् एक कुरर पक्षी अपनी चोंच में मांस दबाये जा रहा था । दूसरे बलवान पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, वे उसे मारने लगे । जब उसने मांस को छोड़ दिया, तभी वह सुखी हो सका ।

इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह ही दुःख का कारण होता है, मनुष्य को कभी भी अति लालच नहीं करना चाहिये । उस कुरर पक्षी को यदि भूख होती तो वह उस मांस के टुकड़े को कभी का खा जाता, किन्तु वह तो उसको भविष्य के लिये संग्रह करने जा रहा था । यह उसका लोभ ही था, जो उसके दुख का कारण बना ।

इसी भाव का एक श्लोक भागवत में भी आता है—

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥

—भागवत ११।९।२

(आगे भी देखिये)

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ।।

(शान्तिपर्व १५८।४)

"लोभ से ही क्रोध प्रकट होता है, लोभ से ही काम की प्रवृत्ति होती है और लोभ से ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता तथा पराधीनता आदि दोष प्रकट होते हैं।"

३३—तृष्णा *

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ।।

(आदि० ८५।१३)

राजा ययाति कहते हैं—"इस पृथ्वी पर जितने भी धान, जो, सुवर्ण, पशु और स्त्रियां हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णा का त्याग कर देना चाहिये।"

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
चक्षुः श्रोत्रे च जीर्यते तृष्णैका न तु जीर्यति ।।

(अनुशासन पर्व ७।२४)

भीष्मजी कहते हैं—'मनुष्य के जीर्ण (जराग्रस्त) होने पर उसके केश जीर्ण होकर झड़ जाते हैं, वृद्ध पुरुष के दांत भी

४—दुर्योधनादि के लोभ के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ जो कौरवों के नाश का कारण बना और सम्पूर्ण देश के लिए भी महान् अहित कर सिद्ध हुआ।

* तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा।

—रामचरितमानस

टूट जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण होकर अन्धे-बहरे हो जाते हैं। केवल तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती है (वह सदा नयी नवेली बनी रहती है)।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
याऽसौ प्राणान्तिको रोगास्तां तृष्णां त्यज्यतः सुखम्॥

(वन० पर्व २।३६)

शौनकजी कहते हैं—'खोटी बुद्धिवाले मनुष्य के लिए जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीर के जरा से जीर्ण होने पर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बताया गया है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।'

---

३४. आलस्य

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम्।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिदक्षे वसति नालसे॥

(शान्ति पर्व २७।३१)

व्यासजी युधिष्ठिर से कहते हैं—"आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है, परन्तु उसका अन्त (फल) दुःख है तथा कार्य-दक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है, परन्तु उससे सुख का उदय होता है। इसके सिवा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुष में निवास करती हैं, आलसी में नहीं।"

न हि प्रमादात् परमास्ति कश्चिद् वधो नराणामिह जीवलोके।
प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात् त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति॥

(सौप्तिक पर्व १०।१९)

युधिष्ठिरजी कहते हैं— 'प्रमाद से बढ़कर इस संसार में मनुष्यों के लिये दूसरी कोई मृत्यु नहीं। प्रमादी मनुष्य को सारे

अर्थ सब ओर से त्याग देते हैं और अनर्थ बिना बुलाये ही उसके पास चले आते हैं।"

---

३५. सन्तोष *

मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ।।
(शान्ति पर्व १८०।२४)

भीष्मजी कहते हैं—"मनुष्य धनी हो जाने पर राज्य पाना चाहते हैं, राज्य से देवत्व की इच्छा करते हैं और देवत्व से फिर इन्द्रपद प्राप्त करना चाहते हैं।"

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ।।
(वन पर्व २।४६)

शौनक जी कहते हैं—"धन की प्यास कभी बुझती नहीं है; अतः सन्तोष ही परम सुख है। इसीलिये ज्ञानीजन सन्तोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं।"

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ।।
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ।।
(उद्योग पर्व ३९।८३-८४)

विदुरजी कहते हैं—"जिसके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं, जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं;

---

* बिन सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
—रामचरितमानस

अतः महाराज धृतराष्ट्र ! आप अधिक का लोभ छोड़ दीजिये, इससे किसी तरह जीवन नहीं रहेगा—यह बात नहीं है। इस पृथ्वी पर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब एक पुरुष के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसी की भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करने वाला मनुष्य मोह में नहीं पड़ता।"

> **सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम्।**
> **तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रति तिष्ठित॥**
>
> (शान्ति पर्व २१।२)

देवस्थान मुनि कहते हैं—"राजन् ! मनुष्य के मन में सन्तोष होना स्वर्ग को प्राप्ति से भी बढ़कर है। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है। सन्तोष यदि मन में भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे बढ़कर संसार में कुछ भी नहीं है।"

---

३६. आशा

१. आशा परम दुर्बलता है—

> **कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप।**
> **तस्या वै दुर्लभात्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया॥**
>
> (शान्ति पर्व १२८।९)

तनुमुनि कहते हैं—"नरेश्वर ! आशा या आशावान् की दुर्बलता के समान और किसी की दुर्बलता नहीं है। जिस वस्तु की आशा की जाती है, उसको दुर्लभता के कारण ही मैंने बहुत से राजाओं के यहाँ याचना की है।

२. आशा ही दुःख का कारण है—

सत्कृत्य नोपकुरुते परं शक्त्या यथार्हतः ।
या सक्ता सर्वभूतेषु साऽऽशाकृशतरी मया ॥
(शान्ति पर्व १२८।१४)

"जब मनुष्य सत्कार करके याचक को आशा दिलाकर भी उसका शक्ति के अनुसार यथायोग्य उपकार नहीं करता, उस स्थिति में सम्पूर्ण भूतों के मन में जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश (करने वाली) होती है।

प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता ।
तथा नरेन्द्र धनिनां साऽऽशा कृशतरी मया ।।
(शान्ति पर्व १२८।१७)

"नरेन्द्र ! वृद्ध अवस्थावाली नारियों के हृदय में जो पुत्र पैदा होने के लिए आशा बनी रहती है तथा धनियों के मन में जो अधिकाधिक धन-लाभ की आशा रहती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश (कृश करने वाली) है।'

३. आशा का त्याग देना ही परम सुख है—

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥
(शान्ति पर्व १७४।६२)

भीष्मजी एक ब्राह्मण की उक्ति बताते हुए कहते हैं— "वास्तव में जिसे किसी प्रकार की आशा नहीं है, वही सुख से सोता है। आशा का न होना ही परम सुख है। देखो, आशा

को निराशा के रूप में परिणत करके पिङ्गला सुख की नींद सोने लगी।" +

---

३७. ममता (मोह)* आसक्ति और अनासक्ति

१. ममता व आसक्ति ही बन्धन का कारण है—

त एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगुणैर्वृतः॥
तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते।
ममत्वेनावृत्तो नित्यं तत्रैव परिवर्तते॥
सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु।

(शान्तिपर्व ३०३।४२–४४)

वसिष्ठजी कहते हैं—"आत्मा से भिन्न तथा आत्मा के गुण चैतन्य आदि से युक्त जो इन्द्रियों का समुदाय शरीर में ऐसी भावना रखता है कि 'यह मैं हूँ' वही देवलोक मनुष्य-लोक नरक तथा तिर्यग्योनि में जाता है। स्त्री-पुत्र आदि के प्रति ममता में बँधा हुआ पुरुष उन्हीं के संसर्ग में रहकर सहस्र-सहस्र कोटि युगपर्यन्त नश्वर शरीर में ही सदा चक्कर लगाता रहता है।

+ भागवत् में भी कहा गया है--

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कांताशां सुखं सुष्वाप पिंगला॥

भागवत् ११।८।४३

अर्थात् आशा ही परम दुःख का कारण है और आशा का परित्याग परमसुख है, जैसे पिंगला नामक वेश्या पति की आशा को त्याग कर सुख से सोयी।

* मोह न अंध कीन्ह केहि केही। —रामचरितमानस

तदैव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम् ।
ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ।।

(शान्ति पर्व ३०४।८)

"(मूल प्रकृति, दस इन्द्रियां, एक प्राण और चार प्रकार का अन्तःकरण—इन) सोलह कलाओं से युक्त जो यह सूक्ष्म शरीर है, इसे 'यह मेरा है'—ऐसा मानने के कारण ही अज्ञानी जीव उसी में भटकता रहता है।"

२. ममता व आसक्ति ही मृत्यु है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्नममेति च शाश्वतम् ।।

(आश्व० १३।३)

भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं—" 'मम' (मेरा)—ये दो अक्षर ही मृत्यु रूप हैं और 'न मम' (मेरा नहीं है)—यह तीन अक्षरों का पद सनातन ब्रह्म की प्राप्ति का कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृत्व है।

लब्ध्वा हि पृथ्वीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥
अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ।।

(आश्व० १३।६-७)

"चराचर प्राणियों सहित समूची पृथ्वी को पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्ति से उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता। किन्तु कुन्ती-नन्दन ! जो वन में रहकर भी जंगली फल-फूलों से जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्यों में ममता है तो वह मौत के मुख में ही विद्यमान है।"

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः ॥

(शान्ति पर्व २७६।८)

भीष्मजी कहते हैं—"कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता करली जाती है—वह वस्तु अपनी मान ली जाती है,तब नष्ट होनेपर वही सन्ताप का कारण बन जाती है ।"

३. ममता व आसक्ति के त्याग की आवश्यकता—

न ह्ययं कस्यचित् कश्चिन्नास्य कश्चन विद्यते ।
भवेत्येको ह्ययं नित्यं शरीरे सुख-दुःख भाक् ॥

(शान्ति पर्व २७५।३६)

असित देवलजी नारदजी से कहते हैं—"यह जीव वास्तव में किसी का कोई नहीं है और न कोई दूसरा ही उसका कुछ है । वास्तव में यह तो सदा अकेला ही है। **परन्तु शरीर में रहकर उसे अपना मानने के कारण ही यह सुख-दुःख का भागी होता है ।"**

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन् न मुह्यति ॥

(शान्ति पर्व २५।१९)

व्यास जी कहते हैं—"यह शरीर भी अपना नहीं है और सारी पृथ्वी भी अपनी नहीं है । यह जिस तरह से मेरी है, उसी तरह दूसरों की भी है—ऐसी दृष्टि रखने वाला पुरुष कभी मोह में नहीं फँसता है ।"

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥

(शान्ति पर्व १७४।१५)

एक **ब्राह्मण की उक्ति कहते हुए भीष्मजी कहते हैं**—"जिस प्रकार समुद्र में बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक-दूसरे

से मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोक में प्राणियों का समागम होता है।"

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येदेषु न पण्डितः॥

(स्त्री पर्व २।२५)

विदुर जी कहते हैं—"रूप, जवानी, जीवन, धन का संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनों का एक साथ निवास—ये सभी अनित्य हैं, अतः विद्वान् पुरुष कभी इनमें आसक्त न हों।"

४. ममता या आसक्ति के त्याग से लाभ और त्याग न करने से हानि—*

नैव संजायते जन्तुर्न जातु विपद्यते।
याति देहमयं मुक्त्वा कदाचित्परमां गतिम्॥

(शान्ति पर्व २७५।३७)

असितदेवलजी नारदजी से कहते हैं–"जीव न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। जब कभी इसे यह तत्त्वज्ञान होता है,तब वह शरीर का अभिमान छोड़कर परमगति को प्राप्त कर लेता है।

---

* **महाराज धृतराष्ट्र का उदाहरण**—दुर्योधन के जन्म के समय विदुरजी ने सम्पूर्ण कुल के नाश को बचाने के लिए दुर्योधन का त्याग कर देने की न्याय एवं धर्मयुक्त बात कही—"समूचे कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को त्याग दे, गाँव के हित के लिए एक कुल को छोड़ दे, देश के हित के लिए एक गाँव का परित्याग करदे और आत्मा के कल्याण के लिए सारे भूमंडल को त्याग दे।"

किन्तु ममता के कारण धृतराष्ट्र दुर्योधन का त्याग न कर सके, जिसका फल धृतराष्ट्र को ही नहीं बल्कि समूचे देश को 'महाभारत' जैसे सर्वनाशकारी युद्ध के रूप में भोगना पड़ा।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

(गीता ५।१०)

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—'जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भांति पाप से लिप्त नहीं होता। (सम्पूर्ण कर्मों को ममता का सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान् का समझकर उन्हीं के लिए, उन्हीं की आज्ञा और इच्छा के अनुसार, जैसा वे करावें वैसे ही कठपुतली की भाँति कार्य करना—परमात्मा में सब कर्मों का अर्पण करना है।)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

(गीता ३।१९)

'इसलिये तू तो संग (आसक्ति) रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करने वाला पुरुष मोक्ष पाता है।'

५. अनासक्त या ममता रहित पुरुष के लक्षण:—

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचति पण्डितः ।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ॥

(उद्यो० १३३।१७)

कुन्तीदेवी विदुला की उक्ति बताती हैं—"विद्वान् पुरुष को अभीष्ट फल की प्राप्ति हो, या न हो, वह उसके लिये शोक नहीं करता। वह (अपनी पूरी शक्ति के अनुसार) प्राण-पर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिए धन की इच्छा नहीं करता।"

यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते ।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्तते ॥
(शान्ति पर्व १९४।४७)

भीष्मजी कहते हैं—'जैसे जल-चर पक्षी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्ध-बुद्धि ज्ञानी पुरुष निर्लिप्त रहकर ही सम्पूर्ण भूतों में विचरता है अर्थात् व्यवहार करता है।"

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वारिचरो यथा ॥
(आदि पर्व ३२६।२९)

राजा जनक शुकदेवजी से कहते हैं—"जो सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को देखता है, वह संसार में उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता, जैसे जलचर पक्षी जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता।"

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां न प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥
(शान्ति पर्व २७६।४)

भीष्मजी राजा जनक की उक्ति बताते हैं—"राजा जनक ने कहा था कि मैं बड़े सुख से जीवन व्यतीत करता हूं, क्योंकि इस जगत् की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। किसी पर भी मेरा ममत्व नहीं है। यदि सारी मिथिला में आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है।"

३८. अभिमान* और अहंकार

१. निरभिमानियों की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है—

न चारित्रनिमित्तो ऽस्याहंकारो देहतापनः।
अभिन्नश्रुतचारित्रस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥
(शान्तिपर्व २३०।५)

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—'नारद जी में शास्त्र-ज्ञान और चरित्र-वल दोनों एक साथ संयुक्त हैं। फिर भी उनके मनमें अपनी सच्चरित्रता के कारण तनिक भी अभिमान नहीं है। वह अभिमान शरीर को संतप्त करने वाला है। उसके न होने से ही नारदजी की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है।'

२. अभिमान या अहंकारपूर्वक किया गया कार्य कभी सुफल नहीं होता—

अभिमानकृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥
(शान्तिपर्व १२।१६)

नकुल कहते हैं—'महाराज! यही कर्म यदि अभिमान-पूर्वक किया जाय तो वह सफल नहीं होता और (अभिमान या अहंकार के) त्यागपूर्वक किया हुआ सारा कर्म महान् फलदायक होता है।'

अहङ्कारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः ।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः ॥
(शान्तिपर्व १९७।५)

---

* सकल सोक दायक अभिमाना। —रामचरित मानस

भीष्मजी कहते हैं—'जप के कारण अपने में बड़प्पन का अभिमान करने वाले सभी जापक नरकगामी होते हैं। दूसरों का अपमान करने वाला जापक भी नरक में ही पड़ता है।'

३. अभिमानियों का पतन निश्चित है—※

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान्।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः॥

(उद्योग पर्व १७।७)

अगस्त्यजी कहते हैं—"इन्द्र ! बल के घमण्ड में भरा हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ, वह प्रिय समाचार सुनो।"

※ भगवान् किसी के अभिमान अथवा गर्व को नहीं रहने देते। उन्होंने रावण, दुर्योधनादि का अभिमान तो चूर-चूर किया ही, अपने भक्तों के अभिमान को भी नहीं रहने दिया, इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा—

(१) गरुड़ को अभिमान था कि मैं भगवान् के भार को वहन करता हूँ, इसे भी उन्होंने नष्ट किया, वह बेचारा उनकी एक अँगुली के भार को भी वहन न कर सका।

(२) **भीम के गर्वभंजन का उदाहरण**—बदरिकाश्रम के निकट द्रौपदी ने सहस्रदल कमल के पुष्प देखकर भीम से वैसे ही और पुष्प लाने का आग्रह किया। भीम पहाड़ पर चढ़ने लगे। आगे चलकर भीम ने देखा कि एक बूढ़ा बन्दर रास्ता रोके हुए रास्ते में पड़ा है। भीम ने उससे कहा—'उठो, और मुझे रास्ता दो। यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हें यमलोक भेज दूँगा।'

उस बूढ़े बन्दर (हनुमानजी) ने देखा कि भीमसेन अपने बल के अभिमान से उन्मत्त तथा अपनी भुजाओं के पराक्रम के घमण्ड में

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
प्रभ्रश्यतेऽसौ चरते न सत्यं लोकास्तस्य ह्यन्तवन्तो भवन्ति ॥
(अनुशासन पर्व २७।१३)

अग्निदेव कहते हैं—"जो ब्राह्मण अध्ययन करके अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्वता पर गर्व करने लगता है तथा जो अपनी विद्या के बल से दूसरों के यश का नाश करता है, वह धर्म से भ्रष्ट होकर सत्य का पालन नहीं करता, अतः उसे नाशवान् लोकों की प्राप्ति होती है।"

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत् कृतवानेष शूरमानी पततोऽतत् ॥
(महाप्रस्थान० २।२१)

महाप्रस्थान के समय अर्जुन आदि के पतन का कारण युधिष्ठिर जी बताते हैं—"अर्जुन को अपनी शूरता का अभिमान था, इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिन में शत्रुओं को भस्म कर डालूँगा'—किन्तु ऐसा किया नहीं; इसी से आज उन्हें धराशायी होना पड़ा है।

भरा हुआ है, तब उन्होंने मन-ही-मन उसका उपहास करते हुए कहा—'भाई ! बुढ़ापे के कारण मुझ में उठने की शक्ति नहीं रह गई है, इसलिये मेरे पर दया करके मेरी पूंछ को हटा कर निकल जाओ।' भीम ने विचार किया कि 'आज मैं इस बल और पराक्रम से शून्य बन्दर को वेगपूर्वक इसकी पूंछ पकड़ कर यमराज के लोक में भेज देता हूं।'—ऐसा विचार कर उसने बांयें हाथ से लापरवाही से उसकी पूंछ पकड़ी, किन्तु उसे हिला-डुला भी न सके। फिर तो उन्होंने दोनों हाथों से सारा जोर लगा दिया—पसीने से तर हो गया पर फिर भी पूंछ टस-से-मस नहीं हुई। फिर तो भीम ने जाकर उन्हें प्रणाम करके उनका परिचय पूछा।

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेव नृपात्मजः ॥

(महाप्रस्थान० २।१०)

"यह राजकुमार सहदेव किसी को अपने जैसा विद्वान् या बुद्धिमान् नहीं समझता था; अतः उसी दोष से इसका पतन हुआ है।

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन न विकत्थसे।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥

(महाप्रस्थान २।२५)

"भीमसेन ! तुम बहुत खाते थे और दूसरों को कुछ भी न समझ कर अपने बल की डींग हाँका करते थे; इसी से तुम्हें भी धराशायी होना पड़ा है।'

मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः।
पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन् सहस्रशः ॥
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः।

(मौसल० ८।१६)

अर्जुन स्वयं पश्चाताप करता हुआ व्यासजी से कहता है- "जब मैं इस घटना का चिन्तन करता हूं, तब बारम्बार मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है। ब्रह्मन् ! पंजाब के अहीरों ने मुझसे युद्ध ठानकर मेरे देखते-देखते वृष्णिवंश की हजारों स्त्रियों का अपहरण कर लिया।"

न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः।
न चावमान्या दर्पात् ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ॥

(आदि पर्व ३१।३२)

प्रजापति कश्यप इन्द्रदेव से कहते हैं—"एक बात का ध्यान रखना—आज से फिर कभी तुम घमण्ड में आकर ब्रह्मवादी महात्माओं का उपहास और अपमान न करना। क्योंकि

उनके पास वाणीरूप अमोघ वज्र है तथा वे तीक्ष्ण कोप वाले होते हैं।"

४. अतः सब प्रकार के अहंकार का त्याग आवश्यक है*

त्यज्य धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वां येन त्यजसि तं त्यज॥

(शान्ति पर्व ३२९।४०)

नारद जी कहते हैं—"धर्म और अधर्म को छोड़ो। सत्य और असत्य को भी त्याग दो और उन दोनों का त्याग करके जिस (अहंकार) के द्वारा त्याग करते हो, उस (अहंकार) को भी त्याग दो।"

---

३९. ईर्ष्या–द्वेष

१. मानव-प्रकृति—

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः॥
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः॥
बहवः पण्डिता मूर्खा लुब्धा मायोपजीविनः।
कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि॥

(शान्ति पर्व १११।६१–६३)

भीष्मजी कहते हैं—"लोभी पुरुष निर्लोभी से, कायर बलवानों से, मूर्ख विद्वानों से, दरिद्र बड़े-बड़े धनियों से, पापा-

---

* दो०—मोहमूल बहुसूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान्॥
—रामचरितमानस

चारी धर्मात्माओं से और कुरूप सुन्दर रूपवालों से द्वेष करते हैं। विद्वानों में भी बहुत से ऐसे अविवेकी, लोभी और कपटी होते हैं, जो वृहस्पति के समान बुद्धि रखने वाले निर्दोष व्यक्ति में भी दोष ढूँढ निकालते हैं।''

२. ईर्ष्याद्वेष से आयु की क्षीणता—

अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥

(अनुशासन पर्व १०४।१३७)

भीष्मजी कहते हैं—''ईर्ष्या करने से आयु क्षीण होती है। इसलिये उसे त्याग देना ही उचित है।''

३. ईर्ष्याद्वेष के त्याग से विपत्तियों से छुटकारा एवं परमानन्द स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति—

परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

(शान्ति पर्व ११०।१७)

भीष्मजी कहते हैं—''जो दूसरों की सम्पत्ति से ईर्ष्यावश जलते नहीं हैं और ग्राम्य-विषयभोग से निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्यों में श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्तियों से छुटकारा पा जाते हैं।''

संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥

(शान्ति पर्व ३२६।३५)

जनकजी शुकदेवजी से कहते हैं—''जब मोह में डालने वाली ईर्ष्या, काम एवं मोह का त्याग करके साधक अपने मन को आत्मा में लगा देता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।''

४०. निन्दा

१. निन्दा मृत्यु से बढ़कर है—

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥
(उद्योग पर्व ७३।२४)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"शत्रुसूदन! कुलीन पुरुष की निन्दा हो या वध—इनमें से वध ही उनके लिये अत्यन्त गुण-कारण है, निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवन को घृणित बना देती है।"

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥
(शान्ति पर्व २९०।२४)

पराशरजी कहते हैं—"मनुष्य दूसरे के जिस कर्म की निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरों की निन्दा तो करता है, किन्तु स्वयं उसी निंद्य कर्म में लगा रहता है, वह उपहास का पात्र होता है।"

२. पर निन्दा से सदैव दूर रहे—*

न वाच्यः परिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत्॥

---

* पर-निन्दा से ययाति का पतन

महाराज ययाति ने अपने पुण्य-प्रभाव से स्वर्गलोक की प्राप्ति की। एक दिन ययाति ने इन्द्र से कहा, 'इन्द्र! मैं देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों और महर्षियों में से किसी को भी तपस्या में अपनी बराबरी करने वाला नहीं देखता हूँ।'

इस पर इन्द्रदेव ने कहा—'राजन्! आपने अपने समान, अपने से बड़े और छोटे लोगों का प्रभाव न जानकर सबका तिरस्कार

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥

(शान्ति पर्व १३२।१२-१३)

भीष्मजी कहते हैं—"किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये और न उसे किसी प्रकार सुनना ही चाहिये । यदि कोई दूसरे की निन्दा करता हो तो वहाँ अपने कान बन्द करले अथवा वहाँ से उठकर अन्यत्र चला जाय । नरेश्वर ! दूसरों की निन्दा करना या चुगली खाना यह दुष्टों का स्वभाव ही होता है। श्रेष्ठ पुरुष तो सज्जनों के समीप दूसरों के गुण ही गाया करते हैं।

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥

(शान्ति पर्व २७८।४)

"न नेत्र से, न मन से और न वाणी से ही वह दूसरों के दोष देखे, सोचे या कहे । किसी के सामने या परोक्ष में पराये दोष की चर्चा कहीं न करे ।"

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा ।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥

(शान्ति पर्व २९१।१७)

पराशरजी कहते हैं—"देवताओं और मुनियों द्वारा जो अनुचित कर्म किये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मों को सुनकर भी उन देवता आदि की निन्दा भी न करे ।"

किया हैं, अतः तुम्हारे इन पुण्य-लोकों में रहने की अवधि समाप्त हो गयी, क्योंकि दूसरों की निन्दा करने के कारण तुम्हारे पुण्य क्षीण हो गये, इसलिए अब तुम यहाँ से नीचे गिरो ।'

इस प्रकार पर-निन्दा के कारण ययाति का स्वर्ग से पतन हुआ ।

परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥
(अनुशासन पर्व १०४।१०५)

भीष्मजी कहते हैं—"अपनी भलाई चाहने वाले पुरुष को दूसरों की निन्दा तथा अप्रिय वचन मुँह से नहीं निकालने चाहिये और किसी को क्रोध भी नहीं दिलाना चाहिये।

(सतां गुरूणां वृद्धानां कुलस्त्रीणां विशेषतः।)
परिवादं न च ब्रूयात् परेषामात्मनस्तथा।
परिवादो ह्यधर्माय प्रोच्यते भरतर्षभ ॥
(अनुशासन पर्व १०४।१२९)

"भरतश्रेष्ठ ! सत्पुरुषों, गुरूजनों, वृद्धों और विशेषतः कुलाङ्गनाओं की, दूसरे लोगों की और अपनी भी निन्दा न करे; क्योंकि निन्दा करना अधर्म का हेतु बताया गया है।"

३. निन्दकों के सब सत्कर्म नष्ट हो जाते है—

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥
तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च।
परोक्षेणापवादी यस्तं नाशयति तत्क्षणात्।
(शान्तिपर्व ११४।१२-१३)

भीष्मजी कहते हैं—"जो सामने आकर गुण गाता है और परोक्ष में निन्दा करता है, वह मनुष्य संसार में कुत्ते के समान है। उसके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। परोक्ष में पर निन्दा करने वाला मनुष्य सैकड़ों मनुष्यों को जो कुछ दान और होम करता है, उन सब अपने कर्मों को तत्काल नष्ट कर देता है।"

४–पर निन्दकों से सदैव दूर रहे–

पुमांसो ये हि निन्दति वृत्तेनाभिजनेन च।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥
(आदि पर्व ७९।१०)

देवयानि कहती हैं—"जो पुरुष दूसरों के सदाचार और कुल की निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचार वाले मनुष्यों में कल्याण की इच्छा वाले विद्वान् पुरुष को नहीं रहना चाहिये।"

अब्रूवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ॥
(वन पर्व २०७।५०)

धर्मव्याध कहता है—"किसी दूसरे की निन्दा न करे, अपनी मान प्रतिष्ठा की प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष परनिन्दा और आत्मप्रशंसा का त्याग किये बिना इस भूमण्डल में सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है।'

पतितैस्तु कथां नेच्छेद् दर्शनं च विवर्जयेत्।
संसर्गं च न गच्छेत् तथाऽऽयुर्विन्दते महत् ॥
(अनुशासन पर्व १०४।१०६)

भीष्मजी कहते हैं—"पतित मनुष्यों के साथ वार्तालाप की इच्छा न करे, उनका दर्शन भी त्याग दे और उनके सम्पर्क में कभी न जाय। ऐसा करने से मनुष्य बड़ी आयु पाता है।"

४१–कीर्ति, यश और सम्मान

कीर्ति, यश और सम्मान का महत्त्व–

यावत्कीर्तिमनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥
(आदि पर्व २०२।११)

भीष्मजी दुर्योधन से कहते हैं—'गान्धारी-नन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्य की कीर्ति जब तक नष्ट नहीं होती, तभी तक वह जीवित है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो गयी, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है।'

वृणोमि कीर्ति लोके हि जीवितेनापि भानुमन् ।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥
(वन ३००।३१)

सूर्य भगवान् के द्वारा कर्ण से कवच और कुण्डल इन्द्र के मांगने पर उसको न देने को कहने पर कर्ण उत्तर देता है—'अतः सूर्यदेव ! मैं जीवन देकर भी जगत् में कीर्ति का ही वरण करूंगा। कीर्तिमान् पुरुष स्वर्ग का सुख भोगता है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, वह स्वयं भी नष्ट ही है।'

यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत् तस्याक्षयं स्थानं भवतीति विनिश्चिता ॥
(शान्ति पर्व ५४।३२)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"जगत् में जब तक भूतल पर मनुष्य का यश का विस्तार होता रहता है, तब तक उसकी परलोक में अचल स्थिति बनी रहती है, यह निश्चय है।

यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके ।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥
(कर्णपर्व ६९।८१)

"इस जीव जगत् में माननीय पुरुष जब तक सम्मान पाता है, तभी तक वह वास्तव में जीवित है। जब वह महान् अपमान पाने लगता है, तब वह जीते जी मरा हुआ कहलाता है।"

४२—मान और अपमान

१. अपमान का कारण (बिना बुलाये जाना)–

सत्यं च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः॥

(अनुशासन पर्व ८२।१४)

लक्ष्मीजी कहती हैं—"उत्तम व्रत का पालन करने वाली गौओ ! लोक में यह प्रवाद चल रहा है कि—विना बुलाये स्वयं किसी के यहां जाने पर निश्चय ही अनादर होता है। यह ठीक ही जान पड़ता है।"

२. अपमान को अमृत तुल्य और सम्मान को विष तुल्य समझे–

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित्।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः॥

(शान्तिपर्व २२९।२१)

जैगीषव्यजी कहते हैं–"तत्त्वज्ञ पुरुष को चाहिये कि वह अपमान को अमृत के समान समझकर उससे सन्तुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मान को विष के तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे।"

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः।
सुखं ह्यवमतः शेते यो ऽवमन्ता स नश्यति ॥
(शान्ति पर्व २९९।२६)

हंस रूप से ब्रह्माजी साध्यगणों को कहते हैं—"विद्वान् को चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीने की भांति सन्तुष्ट हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुख से सोता है, किन्तु अपमान करने वाले का नाश हो जाता है।"

३. स्वयं सम्मान की इच्छा न कर दूसरों को उचित मान दे—

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
(शान्ति पर्व ११०।१९)

भीष्मजी कहते हैं—"जो दूसरों से सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरों को सम्मान देते हैं और सम्माननीय पुरुषों को नमस्कार करते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटों से पार हो जाते हैं।"

४३—सहनशीलता

यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥
(आदि० ७९।१)

गुरु शुक्राचार्यजी अपनी पुत्री से कहते हैं—'हे देवयानी! जो मनुष्य सदा दूसरों के कठोर वचन (दूसरों द्वारा की हुई अपनी निन्दा) सह लेता है, उसने इस सम्पूर्ण जगत् पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा समझो।'

अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति।
दुष्कृतं चात्मानो मर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै॥
(शान्ति पर्व ११४।३)

भीष्मजी कहते हैं—"जो निन्दा करने वाले पुरुष के ऊपर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्य को प्राप्त कर लेता है। वह सहनशील मनुष्य अपना सारा पाप उस क्रोधी पुरुष पर ही धो डालता है।"

४४—अभयता

येषां न कश्चित् त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित्।
येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
(शान्ति पर्व ११०।१६)

भीष्मजी कहते हैं—"जिनसे कोई भयभीत नहीं होता, जो स्वयं किसी से भय को नहीं मानते तथा जिनकी दृष्टि में यह यह सारा जगत् आत्मा के ही तुल्य है; वे दुस्तर संकटों से तर जाते हैं।"

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित॥
(शान्ति पर्व १९२।४)

भृगुजी कहते हैं—"जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है, उसको सम्पूर्ण प्राणियों में किसी से भी कहीं भय नहीं प्राप्त होता हैं।"

तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद् यत् फलमिहाश्नुते॥
(शान्ति पर्व २६२।२८)

तुलाधार जाजलि मुनि से कहते हैं—"तप, यज्ञ, दान और ज्ञान सम्बन्धी उपदेश के द्वारा मनुष्य यहाँ जो-जो फल प्राप्त करता है, वह सब उसे केवल अभयदान से मिल जाता है।

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव।
न स धर्ममवाप्नोति इह लोके परत्र च॥

(शान्ति पर्व २६२।३१)

"घर के भीतर रहने वाले सर्प के समान जिस पुरुष से सब लोग भयभीत रहते हैं, वह इहलोक और परलोक में भी कभी धर्म के फल को नहीं पाता।"

४५—श्रेष्ठ पुरुष अथवा संतजन*

१. वे दूसरों के अपकारों को नहीं, बल्कि उपकारों को याद रखते हैं—

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तोलब्ध सम्भावनाः स्वयम्॥

(सभापर्व ७२।९)

* सन्त असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई॥
दो०—ताते सुर सीसन्ह चढत जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड॥
विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख दिखे पर॥
सम अभूत रिपु बिमल बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥

(आगे भी देखिये)

अर्जुन कहता है—"प्रतिशोध (वदले) का उपाय जानते हुए भी सत्पुरुष दूसरों के उपकारों को ही याद रखते हैं, उनके

कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। संगति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहू तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
दो०—निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम मान प्रिय गुन मन्दिर सुख पुंज॥
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहिं। मिलत एक दुख दारुन देहीं॥
उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥
सुधा सुरा सम साधु असाधु। जनक एक जग जलधि अगाधू॥
भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि बयाधू॥
गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥
दो०—भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु॥
जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि बिकार॥
सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ।
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानस मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

द्वारा किए हुए बैर को नहीं। उन साधु पुरुषों को स्वयं सबसे सम्मान प्राप्त होता है।'

सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम्।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे॥

(वन पर्व १५९।८)

राजर्षि आर्ष्टिषेण युधिष्ठिरजी को प्रश्न रूप में उपदेश करते हैं—"कुरुश्रेष्ठ ! क्या तुम अपने उपकारी को उसके उपकार का यथोचित बदला देना जानते हो ? क्या तुम्हें अपना अपकार करने वाले मनुष्य की उपेक्षा कर देने की कला का ज्ञान है ? तुम अपनी बड़ाई तो नहीं करते।"

अपारे यो भवेत पारमप्लवे यः प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति॥

(शान्तिपर्व ७८।३८)

दो०—गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीती अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥
....
उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई॥
साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥

—रामचरितमानस

भीष्मजी युधिष्ठिरजी से कहते हैं–"बेटा ! जो अपार संकट से पार लगादे, नौका के अभाव में डूबते हुए को नाव बनकर सहारा दे, वह शुद्र हो या अन्य, सर्वथा सम्मान के योग्य है।"

न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतान्यपि ।
असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः ।।
(आश्रमवासिक पर्व १२।२)

अर्जुन कहता है—"जिन्होंने आर्यों की मर्यादा भंग नहीं की है, वे साधु स्वभाव वाले श्रेष्ठ पुरुष दूसरे के अपराधों को नहीं, उपकारों को ही याद रखते हैं।"

२. वे कभी कटु व अहितकर बात नहीं कहते—

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परषमुत्तरम् ।।
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताःपरुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ।।
(सभा ७३।८-९)

धृतराष्ट्र कहते हैं—"युधिष्ठिर ! नीच मनुष्य साधारण वातचीत में भी कटु वचन बोलते हैं। जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तर में कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणी के पुरुष हैं। परन्तु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसी के कटु वचन बोलने या न बोलने पर भी अपने मुख से कभी कठोर एवं अहितकर बात नहीं निकालते।"

३. वे कभी पर-निन्दा-स्तुति, आत्मनिन्दा व आत्म-प्रशंसा नहीं करते—

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः ।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥
(कर्ण पर्व ३५।४५)

शल्य कर्ण से कहता है—"अपनी निन्दा और प्रशंसा परायी निन्दा और परायी स्तुति—ये चार प्रकार के बर्ताव श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी नहीं किये हैं।"

४. वे पर निन्दकों से सदैव दूर रहते हैं—

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं जनापवादे सततं निविष्टम्।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम्॥

(शान्तिपर्व ११४।१७)

भीष्मजी कहते हैं—"जो सदा लोगों की निन्दा में ही तत्पर रहता है, वह मनुष्य के शरीर रूपी घर में रहने वाला भेड़िया है। वह सदा अशान्त बना रहता है। मतवाले हाथी के समान चीत्कार करता है और अत्यन्त भयङ्कर कुत्ते के समान काटने को दौड़ता है। श्रेष्ठ पुरुष को चाहिये कि उसे सदा के लिए त्याग दे।"

५. वे मन, वाणी और क्रिया से किसी से भी द्रोह नहीं करते—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(वन पर्व २९७।३५)

सावित्री देवी कहती हैं—"मन, वाणी और क्रिया के द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सब पर दया भाव रखना और दान देना—यह साधु पुरुषों का सनातन धर्म है।"

६. वे कहते नहीं करके दिखाते हैं—

नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम्।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद् भविष्यति।

(सभापर्व ७७।३०)

अर्जुन कहता है—"आर्य भीमसेन ! साधु पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं, उसे इस प्रकार वाणी द्वारा सूचित नहीं करते। आज से चौदह वर्ष में जो घटना घटित होगी, उसे स्वयं ही लोग देखेंगे।"

७. उनमें सत्य का बल होता है—

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥

(वन पर्व २९७।४८)

सावित्री देवी कहती हैं—"श्रेष्ठ पुरुष सत्य के बल से सूर्य का संचालन करते हैं। सन्त महात्मा अपनी तपस्या से इस पृथ्वी को धारण करते हैं। राजन् ! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्य के आश्रय है। श्रेष्ठ पुरुष सन्तों के बीच में रह कर कभी दुःख नहीं उठाते हैं।"

८. उनमें सदाचार की कभी शिथिलता नहीं पाई जाती-

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनिश्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ते कीर्तमिच्छन्ति कुले विशिष्टां त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥

(उद्योग पर्व ३६।२४)

विदुरजी कहते हैं—"जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषों से माता-पिता को कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्त से धर्म का आचरण करते हैं तथा असत्य का परित्याग कर अपने कुल की विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं।

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते अनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥

(उद्योग पर्व ३३।११३)

"जो अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे के दुःख के समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चाताप नहीं करता, वह सज्जनों में सदाचारी कहलाता है।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी न सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(उद्योग पर्व ३६।३४)

"तृण का आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी–सज्जनों के घर में इन चार चीजों की कभी कमी नहीं होती।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(उद्योग पर्व ३६।३०)

'सदाचार की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिए; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जाने पर भी सदाचारी क्षीण नहीं माना जाता; किन्तु जो सदाचार से भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये।"

९. वे सदैव गुप्त रूप से प्राणियों का हित करते रहते हैं—

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च॥
(शान्ति पर्व १६२।१८)

भीष्मजी कहते हैं—"जो मनुष्य अपने को प्रकट न करके प्रयत्न पूर्वक प्राणियों की भलाई का काम करता रहता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरण का नाम आर्यता है। यह आसक्ति के त्याग से प्राप्त होती है।"

१०. वे परम समतावान् होते हैं—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नो द्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
(गीता० ५।२०)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जो पुरुष प्रिय को पाकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धि संशय-रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है (ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष होते हैं)।"

११. वे कर्त्तव्य पालन में कभी प्रमाद नहीं करते—

न हि प्रमादात् परमस्ति कश्चिद् वधो नराणामिह जीवलोके।
प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात् त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति॥

(सौप्तिक पर्व १०।११)

"प्रमाद से बढ़कर इस संसार में मनुष्यों के लिये दूसरी कोई मृत्यु नहीं। प्रमादी मनुष्य को सारे अर्थ सब ओर से त्याग देते हैं और अनर्थ बिना बुलाये ही उसके पास चले आते हैं (श्रेष्ठ पुरुष कभी प्रमाद नहीं करते)।"

१२. वे समस्त कामनाओं को त्याग, परम शान्ति के भागी होते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २-७० और शान्ति २५१।९)

श्री कृष्ण जी कहते हैं—"जैसे नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थित-प्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं (श्रेष्ठ पुरुष ऐसे ही होते हैं)।"

---

४६. बुद्धि और बुद्धिमान् *

१. सात्त्विक बुद्धि—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।
(गीता १८।३०)

भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं—'हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्ग को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।"

तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना ।।
(शान्ति पर्व १४१।१०२)

भीष्मजी युधिष्ठिर जी से कहते हैं—"अतः कुन्तीनन्दन ! अपने मन को वश में रखने वाले विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह इस जगत् में धर्म और अधर्म का निर्णय अपनी ही विशुद्ध (सात्त्विक) बुद्धि का आश्रय लेकर यथायोग्य बर्ताव करे ।"

२. राजसी बुद्धि—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।
(गीता १८।३१)

श्री कृष्णजी कहते हैं—'हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जाना जाता, वह बुद्धि राजसी है ।"

---

*१–बरसहिं जलद भूमि निअराएँ । जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ ।।
२–जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ।।
—रामचरितमानस

अकस्मात् प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम् ।
शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवम् ॥
(शान्ति पर्व १११।८८)

भीष्मजी कहते हैं—"मनुष्य के उत्कर्ष और अपकर्ष (उन्नति और अवनति) अकस्मात् होते हैं, किसी का भला करके बुरा करना और उसे महत्त्व देकर नीचे गिराना, यह सब ओछी बुद्धि का परिणाम है।"

३. तामसी बुद्धि या विपरीत बुद्धि—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
(गीता १८।३२)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"हे अर्जुन! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी 'यह धर्म है'—ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है।'

असम्भवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥
(सभा पर्व ७६।५)

वैशम्पायनजी कहते हैं—"जनमेजय! किसी जानवर का शरीर स्वर्ण का हो, यह सम्भव नहीं, तथापि श्रीराम स्वर्णमय प्रतीत होने वाले मृग के लिये लुभा गये। जिनका पतन या पराभव निकट होता है, उनकी बुद्धि प्रायः विपरीत हो जाती है।"

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥
(सभा पर्व ८१।८-९)

संजय कहते हैं—"देवता लोग जिस पुरुष को पराजय देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि ही पहले हर लेते हैं, इससे वह सब कुछ उलटा ही देखने लगता है। विनाश काल उपस्थित होने पर जब बुद्धि मलीन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्याय के समान जान पड़ता है और वह हृदय से किसी प्रकार नहीं निकलता।"

४. बुद्धिमान् सदैव 'स्थिर बुद्धि' होता है—

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ।।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् ।

(शान्ति पर्व १३८।१४९?)

भीष्मजी कहते हैं—"चपल प्राणी जब अपने ही लिये कल्याणकारी नहीं होता तो वह दूसरों की क्या भलाई करेगा? अतः यह निश्चित है कि चपल पुरुष सब काम चौपट कर देता है।"

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

(गीता २।५५–५७)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जिस काल में यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली भांति त्याग देता है और आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट रहता है, उस काल में वह **'स्थिर-प्रज्ञ'** कहलाता है। दुःखों की प्राप्ति होने पर

जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा स्पृह (इच्छा) रहित है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि **स्थिर-बुद्धि** कहलाता है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेह-रहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी **बुद्धि स्थिर** है।

५. बुद्धिमान् पुरुष के कर्त्तव्य— ❋

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः।
स कृच्छ्रकालं सम्प्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित् ॥

(आदि पर्व २३१।१)

"बुद्धिमान् पुरुष संकटकाल आने के पहिले ही सजग हो जाता है, वह संकट का समय आने पर कभी व्यथित नहीं होता।"

सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ।।
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति।

(सभा पर्व १३।३४;)

'जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनों को देखकर तथा देश, काल, आय और व्यय को बुद्धि के द्वारा भली भांति समझ करके कार्य आरम्भ करता है, वह कष्ट में नहीं पड़ता।"

❋ बुद्धिमान् पुरुष ऊपरी बातों को देखकर कभी भुलावे में नहीं आते—

तुलसी देखि सुवेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि ।।

—रामचरित मानस

४७. दुर्लभ

लभ्यते खलु पापीयान् नरो नु प्रियवागिह।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ ❀

(सभा पर्व ६४।१६)

विदुरजी धृतराष्ट्र को चेतावनी देते हुए कहते हैं—"इस संसार में सदा मन को प्रिय लगने वाले वचन बोलने वाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है; परन्तु हितकर-अप्रिय वचन को कहने और सुनने वाले दोनों दुर्लभ हैं। (अतः ऐसे पुरुषों की सम्मति को जो ठुकराता है उसका सर्वनाश निश्चित है)।

दुर्लभोऽप्यथवानास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात्।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते॥

(शान्तिपर्व १२८।१३)

"जो याचक धैर्य धारण कर सके अर्थात् किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर भी उसके लिये किसी से याचना न करे, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करने वाले याचक की अवहेलना न करे—आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे, ऐसा पुरुष संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।"

❀ प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं।
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर थोरे॥
—रामचरितमानस

४८. पण्डित और मूर्ख * (मूढ)

१. हजारों मूर्खों की अपेक्षा एक पंडित उत्तम है—

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥

(सभा पर्व ५।३५)

नारदजी युधिष्ठिरजी से पूछते हैं—"तुम हजार मूर्खों के बदले एक पण्डित को ही तो खरीदते हो न ? अर्थात् आदर-पूर्वक स्वीकार करते हो न ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थ-संकट के समय महान् कल्याण कर सकता है ।'

२. पण्डित के लक्षण—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(गीता ४।१९)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"जिसके सम्पूर्ण कर्म (शारीरिक व मानसिक) बिना कामना और संकल्प के होते हैं और जो ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म हो चुके हैं, उसे बुद्धिमान् (ज्ञानी) लोग भी पण्डित कहते हैं ।"

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥

(दाक्षिणात्यप्रति उद्यो० पर्व अध्याय ३३)

विदुरजी कहते हैं—"अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, उद्योग, दुःख सहने की शक्ति और धर्म में स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्य को पुरुषार्थ से च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ।

---

* फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद ।
मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम ॥

—रामचरितमानस

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥

(उद्योग पर्व ३३।१७)

"क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपने को पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है।

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मंत्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते॥

(उद्यो० ३३।१८)

"दूसरे लोग जिसके कर्त्तव्य, सलाह और पहिले से किये हुए विचार को नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होने पर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है।

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते॥

(उद्यो० ३३।१९)

"सर्दी-गर्मी, भय-अनुराग, सम्पत्ति तथा दरिद्रता—ये जिसके कार्य में विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है।

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥

(उद्यो० ३३।२२)

"विद्वान् पुरुष किसी विषय को देर तक सुनता है; किन्तु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्त्तव्य-बुद्धि से पुरुषार्थ में प्रवृत्त होता है—कामना से नहीं, बिना पूछे दूसरे के विषय में व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है। उसका यह स्वभाव पण्डित की मुख्य पहचान है।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डित बुद्धयः ।।

(उद्यो० ३३।२३)

"पण्डितों की सी बुद्धि रखने वाले पुरुष दुर्लभ वस्तु की कामना नहीं करते, खोई हुई वस्तु के विषय में शोक करना नहीं चाहते और विपत्ति में पड़कर घबराते नहीं है।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ।।

(उद्योग पर्व ३३।२४)

"जो पहले निश्चित करके फिर कार्य का आरम्भ करता है, कार्य के बीच में नहीं रुकता, समय को व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्त को वश में रखता हैं, वही पण्डित कहलाता है।

न हृष्यत्यात्मसन्माने नावमानेन तृप्यते ।
गाङ्गो हृद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥

(उद्यो० ३३।२६)

"जो अपना आदर होने पर हर्ष के मारे फूल नहीं उठता, अनादर से संतप्त (दुःखी) नहीं होता तथा गङ्गाजी के हृद (गहरे गर्त) के समान जिसके चित्त को क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ।।

(उद्यो० ३३।२९)

"जिसकी विद्या बुद्धि का अनुसरण करती है और बुद्धि विद्या का तथा जो शिष्ट पुरुषों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वही पण्डित की संज्ञा पा सकता है।

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥

(उद्यो० ३३।४०)

"जो बहुत धन, तथा ऐश्वर्य को पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है।"

३. मूर्ख (मूढ) के लक्षण—

शोकस्थानसहस्राणि भय स्थान शतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

(शान्ति पर्व ३३०।२)

नारदजी शुकदेवजी से कहते हैं—"शोक के सहस्रों और भय के सैकड़ों स्थान हैं; जो प्रतिदिन मूढ पुरुषों पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पर नहीं।"

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥

(उद्यो० ३३।३१)

विदुरजी कहते हैं—"जो अपना कर्त्तव्य छोड़कर दूसरे के कर्त्तव्य का पालन करता है तथा मित्र के साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है।

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥

(उद्यो ३३।३२)

"जो न चाहने वालों को चाहता है और चाहने वालों को त्याग देता है तथा जो अपने से बलवान् के साथ बैर बाँधता है, उसे मूढ विचार का मनुष्य कहते हैं।

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥

(उद्यो० ३३।३३)

"जो शत्रु को मित्र बनाता और मित्र से द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुंचाता है तथा सदा बुरे कर्मों का आरम्भ किया करता है, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं।

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे समूढो भरतर्षभ ॥

(उद्यो० ३३।३४)

"भरतश्रेष्ठ ! जो अपने कामों को व्यर्थ ही फैलाता है और सर्वत्र सन्देह करता है तथा शीघ्र होने वाले काम में भी देर लगाता है, वह मूढ है।

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥

(उद्यो ३३।३७)

"स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरों पर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थ का क्रोध करता है, वह मनुष्य महान् मूर्ख है।"

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥

(शान्ति पर्व ३१८।५०)

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—"साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदों के द्वारा जानने योग्य परमेश्वर को नहीं जानता, वह मूढ केवल वेदों का बोझ ढोने वाला है।"
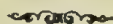
४९. चिन्ता*

१. श्रेष्ठ व धीर पुरुष कभी चिन्ता नहीं करते–

विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतांगते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥

(वन पर्व ७९।१४)

बृहदश्व मुनि कहते हैं—'जब दैव (प्रारब्ध) प्रतिकूल हो और पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, उस समय भी सत्त्वगुण का आश्रय लेने वाले मनुष्य अपने मन में विषाद नहीं लाते।'

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्धया दृष्ट्वा लोकेषु संततिम् ।
सम्यक् प्रपश्यन्तः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥

(शान्ति पर्व ३३०।१०)

नारदजी शुकदेवजी से कहते हैं—'जो पुरुष संसार में अपनी सन्तान की मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओं पर समीचीन भाव से दृष्टिपात या विचार करने पर किसी का भी आँसू बहाना युक्ति-संगत नहीं है।'

२. चिन्ता से कोई लाभ नहीं, बल्कि अनेक हानि—

अतिक्रान्तं हि यत् कार्यं पश्चाच्चिन्तयते नरः ।
तच्चास्य न भवेत् कार्यं चिन्तया च विनश्यति ॥

(कर्ण० ३१।२९)

संजय धृतराष्ट्र से कहता है—"जो बीती हुई बात के लिए पीछे चिन्ता करता है, उसका वह कार्य तो सिद्ध होता नहीं, केवल चिन्ता करने से वह स्वयं नष्ट हो जाता है।"

---

*भगवान् शिव 'रामचरित मानस' में कहते हैं।
'चिन्ता साँपिनि को नहिं खाया।'

तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ।
संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते श्रियः ।।
संतापाद् भ्रश्यते चायुर्धर्मश्चैव सुरेश्वर ।

(शान्ति पर्व २२६।५½)

राजा बलि इन्द्रदेव से कहते हैं—"इन्द्र ! इसीलिये मैं शोक नहीं करता; क्योंकि यह सम्पूर्ण वैभव नाशवान् है। सन्ताप करने से रूप का नाश होता है । सन्ताप करने से कान्ति फीकी पड़ जाती है और सुरेश्वर ! संताप से आयु तथा धर्म का भी नाश होता है ।"

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ।।

(शान्ति पर्व ३३०।७)

नारदजी शुकदेवजी से कहते हैं—"जो बीती बात के लिए शोक करता है, उसे न तो अर्थ की प्राप्ति होती है और न धन और यश की ही। वह उसके अभाव का अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है ।उससे अभाव दूर नहीं होता ।"

३. चिन्ता मृतात्माओं को भी भारी संताप में डाल देती है—

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिपः ।
संतापयति चैतस्य पूर्व प्रेतान् पितामहान् ।।

(आश्वमेधिक० २।२)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"जनेश्वर ! यदि मनुष्य मरे हुए प्राणी के लिए अपने मन में शोक करता है तो उसका यह शोक पहले के मरे हुए पितामहों को भारी संताप में डाल देता है ।"

---

५०. छल*

१. छल की क्या आवश्यकता ?

यदा सर्वे समं न्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले ।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलुब्धमिह दुर्बुधाः ।।

(स्त्री० ४।१८)

विदुरजी कहते हैं—'जब मरने के बाद श्मशान में डाल दिये जाने पर सभी लोग समान रूप से पृथ्वी की गोद में सोते हैं, तब वे मूर्ख मानव संसार में क्यों एक-दूसरे को ठगने की इच्छा करते हैं ।'

२. छल के कारण युधिष्ठिरजी को भी नरक देखना पड़ा–

तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप ।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ॥
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ।

(स्वर्ग-पर्व ३।१५-१६)

इन्द्रदेव युधिष्ठिरजी से कहते हैं—"नरेश्वर ! मैंने तुम्हारे कल्याण की इच्छा से तुम्हें पहिले ही इस प्रकार नरक का दर्शन कराने के लिये यहाँ भेज दिया है । राजन् ! तुमने गुरुपुत्र अश्वत्थामा के विषय में छल से काम लेकर द्रोणाचार्य को उनके पुत्र की मृत्यु का विश्वास दिलाया था, इसलिये तुम्हें भी छल से ही नरक दिखलाया गया है ।"

---

* १. सो०—जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि ।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि ।।
२. निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।
—रामचरितमानस

५१. द्यूत (जूआ)

१. जूआ एक प्रकार का छल है, अतः निंदनीय है—

निकृतिर्देवनं पापं क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥
(सभा पर्व ५९.५)

महाराज युधिष्ठिर शकुनि से कहते हैं—'राजन् ! जुआ तो एक प्रकार का छल है। इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है और न कोई इसकी निश्चित नीति ही है। फिर तुम द्यूत की प्रशंसा क्यों करते हो ?'

२. यह झगड़े की जड़ है—

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति मिथो भेदं महते दारुणाय ।
यथा स्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥
(सभा पर्व ६३।१)

विदुरजी इसका घोर विरोध करते हुए कहते हैं—"महाराज जूआ खेलना झगड़े की जड़ है। इससे आपस में फूट पैदा होती है, जो भयंकर संकट की सृष्टि करती है। यह धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन उसी का आश्रय लेकर इस समय भयानक वैर की सृष्टि कर रहा है।"

३. यह महान् संकटों में डाल देता है—

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरंजयः ।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥
(वन पर्व ७९।६)

बृहदश्व मुनि कहते हैं—"भरत श्रेष्ठ ! पुरुषोत्तम ! शत्रुओं की राजधानी पर विजय पाने वाले महाराज नल ❀ जूआ खेलने के कारण अपनी पत्नीसहित इस प्रकार महान् संकट में पड़ गये थे।"

४. जूआ से समस्त कुल का नाश–

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं मैवं कृथाः कुलनाशाद् बिभेमि।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्यादेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र॥

(सभापर्व ५७।३)

विदुरजी राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं—"महाराज मैं आपके इस आदेश (जूआ के लिए पाण्डवों को बुलाने) का अभिनन्दन नहीं करता, आप ऐसा काम मत कीजिये। इससे मुझे समस्त कुल के विनाश का भय है। +

❀ महाराज नल की कथा 'कौटुम्बिक प्रेम एवं कर्त्तव्य' में स्त्रीधर्म के अन्तर्गत 'दमयन्ती' शीर्षक में दी गई है, वहीं देखने का कष्ट करें।

+ अन्त में विदुर जी की यह आशंका अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई जब कौरव और पाण्डवों की १८ अक्षौहिणी सेना में से सिर्फ १० व्यक्ति (तीन कौरवों के पक्ष के—कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा तथा सात पाण्डव-पक्ष के—श्रीकृष्ण, सात्यकि और पाँचों पाण्डव) बचे, तब महाराज धृतराष्ट्र घोर पश्चात्ताप करते हैं कि, 'हाय ! मैंने विदुर की सलाह नहीं मानी।'

५२. दुष्ट पुरुष*

१. दुष्ट पुरुषों के लक्षण—

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥

(आदि पर्व १०३।४६)

बृहस्पतिजी कहते हैं—"देवराज ! जो परोक्ष में किसी व्यक्ति के दोष ही दोष बताता है, उसके सद्गुणों में भी दोषा-रोपण करता रहता है और यदि दूसरे लोग उसके गुणों का वर्णन करते हैं तो जो मुँह फेर कर चुप बैठ जाता है, वही दुष्ट माना जाता है।"

---

*१. बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ । जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ ॥
पर हित हानि लाभ जिन्ह केरें । उजरें हरष बिषाद बसेरें ॥
हरिहर जस राकेस राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी । परहित घृत जिन्ह के मन माखी ॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा । अवगुन धन धनी धनेसा ॥
उदय केत सम हित सबही के । कुंभकरन सम सोवत नीके ॥
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं । जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं ॥
बंदउँ खल जस सेष सरोषा । सहस बदन बरनइ पर दोषा ॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना । पर अघ सुनइ सहस दस काना ॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही । संतत सुरानीक हित जेही ॥
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा । सहस नयन पर दोष निहारा ॥
दो०—उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति ।
जानि पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति ॥

२. .... निज तनु पोषक निरदय भारी ।।

३. छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई । जस थोरेहुँ धन खल इतराई ।।

४. बरु बल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ।।

५. सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपन सन सुंदर नीती ।।
ममता रत सन ग्यान कहानी । अति लोभी सन बिरति बखानी ।।
क्रोधहि सम कामिहि हरि कथा । ऊसर बीज बएँ फल जथा ।।

६. काटेंहि पइ कदरी फरइ कोटि जतन कोउ सींच ।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेंहि पइ नव नीच ।।

७. ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी । सकल ताडना के अधिकारी ।।

८. सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ । भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ ।।
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई । जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ।।
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी । जरहिं सदा पर संपति देखी ।।
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई ।।
काम क्रोध मद लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ।।
बयरु अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ।।
झूठइ लेना झूठइ देना । झूठइ भोजन झूठ चबेना ।।
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा । खाइ महा अहि हृदय कठोरा ।।
दो०—पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपवाद ।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ।।
जब काहू कै देखहिं बिपती । सुखी भए मानहुँ जग नृपती ।।
स्वारथ रत परिवार बिरोधी । लंपट काम लोभ अति क्रोधी ।।
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं । आपु गए अरु घालहिं आनहि ।।
करहिं मोह बस द्रोह परावा । संत संग हरि कथा न भावा ।।
अवगुन सिंधु मंद मति कामी । बेद बिदूषक परधन स्वामी ।।
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा । दंभ कपट जियँ धरें सुवेषा ।।

—रामचरितमानस

कामस्माश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
(गीता १६।१०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"(वे) तृप्त न होने वाली कामनाओं से भरपूर, दम्भी, मानी, मदान्ध, अशुभ निश्चय वाले मोह से दुष्ट इच्छायें ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।
(गीता १६।१८)

"अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेने वाले और उनमें तथा दूसरों में रहने वाला जो मैं (सर्वात्मरूप परमेश्वर) हूँ, उसका वे द्वेष करने वाले हैं।"

२. दुष्ट पुरुषों की संगति से हानि—

असतां दर्शनात् स्पर्शनात् संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ।।
(वन पर्व १।२१)

पुरवासी पाण्डवों से कहते हैं—"दुष्ट पुरुषों के दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने बैठने से धार्मिक आचारों की हानि होती है। इसलिये वैसे मनुष्यों को कभी सिद्धि नहीं मिलती।"

३. दुष्ट पुरुषों की गति—

ये च राष्ट्रोपरोधेन वृद्धिं कुर्वन्ति केचन ।
तदैव तेऽनुमार्यन्ते कुणपे कृमयो यथा ।।
(शान्ति पर्व १३५।२१)

"जो लोग राष्ट्र को हानि पहुँचा कर अपनी उन्नति के लिये प्रयत्न करते हैं, वे मुर्दों में पड़े हुए कीड़ों की तरह उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं।"

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।

(गीता १६।१९-२०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"इन नीच, द्वेषी, क्रूर, अमंगल नराधमों को मैं इस संसार की अत्यन्त आसुरी योनि में ही बारम्बार डालता हूँ। हे कौन्तेय ! जन्म-जन्म आसुरी योनि को पाकर और मुझे न पाने से ये मूढ लोग इससे भी अधम गति पाते हैं।"

---

५३. संगति

१. मनुष्य जैसी संगति करता है, वैसा ही बन जाता है-

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ।।

(उद्योग पर्व ३६।१३)

विदुरजी कहते हैं—"मनुष्य जैसे लोगों के साथ रहता है, जैसे लोगों की सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है।"

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम् ।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ।।

(शान्ति पर्व २९३।५)

पराशरजी कहते हैं—"श्वेत वस्त्र को जैसे रंग में रंगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार

जैसा संग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढता है। यह बात मेरे से अच्छी तरह समझ लो।"

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात्।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः॥

(वन पर्व १।३०)

नगरनिवासी पाण्डवों से कहते हैं—"नीच पुरुषों का साथ करने से मनुष्यों की बुद्धि नष्ट होती है। मध्यम श्रेणी के मनुष्यों का साथ करने से मध्यम होती है और उत्तम पुरुषों का संग करने से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है।"

२. दुष्ट एवं पापियों की संगति से दण्ड का भागी होना पड़ता है— ※

असंत्यागात् पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात् तस्मात् पापैः सह सन्धि न कुर्यात्॥

(उद्योग पर्व ३४।७०)

※ १–को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥

—रामचरितमानस

२–सत्संगति की अपेक्षा कुसंगति का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। कुसंगति के प्रभाव से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उसे उचित अनुचित का कोई ध्यान नहीं रहता। जैसे महाराज धृतराष्ट्र की बुद्धि भी शकुनि, दुर्योधन आदि की संगति के कारण उचित-अनुचित को समझ सकने में असमर्थ हो गयी और विदुर, भीष्म यहां तक कि भगवान श्री कृष्ण की भी कल्याकारी बातों को धारण न कर सकी। देवी गांधारी की न्याययुक्त बातों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। न चाहते हुए भी दो बार द्यूत का आयोजन किया गया, जो कौरव-पाण्डवों के ही नहीं अपितु समस्त देश के नाश का कारण बना।

विदुरजी कहते हैं—"पापाचारी दुष्टों का त्याग न करके उनके साथ मिले रहने से निरपराध सज्जनों को भी उन (पापियों) के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ी में मिल जाने से गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषों के साथ कभी मेल न करे।"

३. सत्संगति से परमात्मा तक की प्राप्ति हो सकती है*

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥

(शान्ति पर्व ३०८।२७)

वशिष्ठजी कहते हैं—"पुरुष प्रवर! जीवात्मा शुद्ध पुरुष का संग करके विशुद्ध धर्मवान् होता है। किसी ज्ञानी या बुद्धिमान् का सङ्ग करने से बुद्धिमान् होता है। किसी मुक्त से मिलने पर मुक्त के से ही धर्म या लक्षण प्रकट होते हैं।

---

* (१) **महाराज ययाति का उदाहरण**—महाराज ययाति का परनिन्दा के कारण पुण्यों का क्षय होकर जब स्वर्ग से पतन होने लगा तो उन्होंने इन्द्र देव से प्रार्थना की कि मैं साधु—श्रेष्ठ—पुरुषों के बीच में गिरने की इच्छा करता हूँ। फलतः वे पुण्यात्मा अष्टकों के मध्य गिरे और उनकी सत्संगति के प्रभाव से पुनः स्वर्ग प्राप्त कर सके।

(२) इस सम्बन्ध में सांख्य दर्शन के आख्यायिकाध्याय के प्रथम सूत्र 'राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात्' में निम्न कथा दी गयी है कि एक राजपुत्र का जन्म से ही एक चाण्डाल के घर में पालन-पोषण हुआ था। इस कारण राजपुत्र भी अपने आपको चाण्डाल ही समझने लगा। आगे चलकर जब किसी मंत्री ने बतलाया कि तू चाण्डाल का पुत्र नहीं, राजपुत्र है तो उसका भ्रम दूर हुआ और वह अपने आपको राजपुत्र समझने लगा।

(आगे भी देखिये)

शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान् ।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मा ।।
केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै ।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ।।

(शान्ति पर्व ३०८।२९-३०)

इससे सिद्ध होता है कि संगति का असर अवश्य होता है। संगति का प्रभाव प्रत्येक पर पड़ता है, जैसे कि उस राजपुत्र पर चाण्डाल के घर में रहने के कारण हुआ ।

(३) सुनि आचरज करै जनि कोई । सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥
बालमीक नारद घटजोनी । निज-निज मुखनि कही निज होनी ॥
जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहां जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपाँ बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
सो मो सन कहि जात न कैसे । साक बनिक मनि गुन गन जैसे ॥

दो० बंदऊँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ ।
अञ्जलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ ॥

....

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अङ्ग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

—रामचरितमानस

"जिसके आचार विचार शुद्ध हैं, उससे मिलने पर वह पवित्र कर्मा एवं पवित्र होता है। जिसका अन्तःकरण निर्मल है, उसके सम्पर्क में जाने पर वह भी निर्बलात्मा और अमित तेजस्वी होता है। अद्वितीय परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करके वह तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अद्वितीय परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। स्वतन्त्र परमेश्वर से सम्बन्ध रखने के कारण वह वास्तव में स्वतन्त्र होकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है।"

---

५४. आत्म-प्रशंसा

१. आत्मप्रशंसा निन्दनीय है-

न त्वेतदनुरूपं ते यशसो वा कुलस्य च।
समृद्धार्थोऽसमृद्धार्थं यन्मां कत्थितुमिच्छसि॥
(शान्ति पर्व २२३।२८)

बलि इन्द्र से कहता है—"इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन गई है, ऐसी अवस्था में जो तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसा के गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यश के अनुरूप नहीं है।"

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम्।
गुण संकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो॥
(आदि० ३४।२)

गरुड़ इन्द्र देव से कहते हैं—"शतक्रतो! साधु पुरुष स्वेच्छा से अपने बल की स्तुति और अपने ही मुख से अपने गुणों का बखान अच्छा नहीं समझते।"

२. आत्म-प्रशंसा आत्मवध के समान है—

ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ।
(कर्ण ७०।२९)

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"अतः पार्थ ! तुम अब यहां अपनी ही वाणी द्वारा अपने गुणों का वर्णन करो। ऐसा करने से यह मान लिया जावेगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया।"

३. अपने पुण्य व उत्तम कार्योंके प्रशंसक नरकगामी होते हैं

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति लालप्यमाना नरदेव सर्वे।
ते कङ्कगोमायुबलाशनार्थे क्षीणा विवृद्धि बहुधा व्रजन्ति ॥
(आदि पर्व ९०।४)

ययाति कहते हैं—"नरदेव ! जो मनुष्य अपने मुख से अपने पुण्य कर्मों का बखान करते हैं, वे सभी इस भौम नरक में आ गिरते हैं। यहां वे गीधों, गीदड़ों और कौओं आदि के खाने योग्य इस शरीर के लिए बड़ा भारी परिश्रम करके क्षीण होते और पुत्र-पौत्रादि रूप से बहुधा विस्तार को प्राप्त होते हैं।"

---

५५. शरणागत रक्षा

१. शरणागतों की रक्षा से परम सिद्धि—

शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान्।
परिपाल्य महात्मानः संसिद्धि परमां गताः ॥
(शान्ति पर्व १४३।३)

भीष्मजी कहते हैं—"राजन् ! शिबि आदि महात्मा राजाओं ने तो शरणागतों की रक्षा करके ही परम सिद्धि प्राप्त करली थी।"

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥
(महाप्रस्थानिक पर्व ३।१२)

युधिष्ठिरजी शरणागत कुत्ते को न छोड़कर स्वर्ग को भी तिलाञ्जलि देते हुए कहते हैं—"जो डरा हुआ हो, भक्त हो, मेरा दूसरा कोई सहारा नहीं है—ऐसा कहते हुए आर्त भाव से शरण में आया हो, अपनी रक्षा में असमर्थ—दुर्बल—हो और अपने प्राण बचाना चाहता हो, ऐसे पुरुष को प्राण जाने पर भी मैं नहीं छोड़ सकता, मेरा यह व्रत है।"

२. शरणागत की रक्षा न करना महान् पाप है—*

आशया ह्यभिपन्नानामकृत्वाश्रुप्रमार्जनम्।
राजा वा राजपुत्रो वा भ्रूणहत्यैव युज्यते ॥
(शांति पर्व ३६०।९)

नागपत्नी नाग से कहती है—"जो आशा लगाकर अपनी शरण में आये हों, उनके आंसू जो नहीं पोंछता है, वह राजा हो या राजकुमार, उसे भ्रूण हत्या का पाप लगता है।"

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे सेन्द्रादेवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ॥
(उद्योगपर्व १२।२१)

---

* दो०—सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥
—रामचरितमानस

बृहस्पतिजी कहते हैं—"जो भयभीत शरणागत को शत्रु के हाथ में दे देता है, उसकी सन्तान अकाल में ही मर जाती है। उसके पिता सदा नरक में निवास करते हैं। उस पर इन्द्र आदि देवता वज्र से प्रहार करते हैं।"

---

५६. वाणी

१. मधुर वाणी से कल्याण की प्राप्ति—

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥

(उद्योग पर्व ३४।७७)

विदुरजी कहते हैं—"राजन्! मधुर शब्दों में कही हुई बात अनेक प्रकार से कल्याण करती है, किन्तु वही यदि कटु शब्दों में कही जाय तो महान् अनर्थ का कारण बन जाती है।'

प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते।

(शान्ति पर्व ११०।४)

भीष्मजी कहते हैं—"जो दूसरों के कटु वचन सुनाने या निन्दा करने पर भी उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसी को मारते नहीं तथा स्वयं देते हैं, परन्तु दूसरों से मांगने नहीं; वे दुर्गम संकट से भी पार हो जाते हैं।'

२. कटुवाणी अनर्थों का कारण है—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

(अनुशासन पर्व १०४।३३)

भीष्मजी कहते हैं—"बाणों से बिंधा हुआ और फरसे से कटा हुआ वन पुनः अंकुरित हो जाता है, किन्तु दुर्वचनरूपी शस्त्र से किया हुआ भयङ्कर घाव कभी नहीं भरता है।"

यो हि नाभाषते किंचित् सर्वदा भ्रुकुटीमुखः।
द्वेष्यो भवति भूतानां ते सान्त्वमिह नाचरन ॥

(शान्ति० ८४।५)

बृहस्पतिजी कहते हैं—"जो मनुष्य सदा भौंहे टेढ़ी किये रहता है, किसी से कुछ बातचीत नहीं करता, वह शांतभाव (मृदुभाषी होने के गुण) को न अपनाने के कारण सब लोगों के द्वेष का पात्र हो जाता है।"

३. वाणी के नियम—

यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिषाषते ।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति ॥

(शान्ति पर्व ८४।६)

बृहस्पतिजी कहते हैं—"जो सभी को देखकर पहिले ही बात करता है और सबसे मुस्कराकर बोलता है, उस पर सब लोग प्रसन्न रहते हैं।"

अप्राप्त काल वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्धयवज्ञानमवमानं च भारत ॥

(उद्योग पर्व ३९।२)

विदुरजी कहते हैं—"भारत ! समय के विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धि की भी अवज्ञा ही होगी।"

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥

(शान्ति पर्व १९१।१४)

भृगुजी कहते हैं—"वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें सब प्राणियों के प्रति स्नेह भरा हो तथा जो सुनते समय कानों को सुखद जान पड़े। दूसरों को पीड़ा देना, मारना और कटु-वचन सुनाना—ये सब निन्दित कर्म हैं।"

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेन्न न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्तस्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥

(शान्ति पर्व २६९।२५)

कपिलजी कहते हैं—"किसी को गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरों की चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य-वचन बोले तथा इसके लिए सदा सावधान रहे—ऐसा करने से वाक्-इन्द्रियरूप द्वार की रक्षा होती है।"

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं प्रियं धर्मं वदेत् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥

(शान्ति पर्व २९९।३८)

हंसरूपधारी ब्रह्माजी साध्यगणों को कहते हैं—"व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहना अच्छा (यह वाणी की प्रथम विशेषता है), सत्य बोलना वाणी की दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणी की तृतीय विशेषता है। धर्म-सम्मत बोलना वाणी की चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है)।"

यस्तु वक्ता द्वयोरर्थमविरुद्धं प्रभाषते।
श्रोतुश्चैवात्मनश्चैव स वक्ता नेतरो नृप ॥

(शान्ति पर्व ३२०।९४)

तपस्विनी सुलभा राजा जनक से कहती हैं—"परन्तु नरेश्वर ! जो वक्ता अपने और श्रोता दोनों के लिए अनुकूल विषय ही बोलता है, वही वास्तव में वक्ता है, दूसरा नहीं।"

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
न कश्चिद् गुण सम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ।।

(वन पर्व २०७।५०)

धर्मव्याध कौशिक मुनि से कहते हैं—"किसी दूसरे की निन्दा न करे, अपनी मान-प्रतिष्ठा की प्रशंसा न करे। कोई भी गुणवान् पुरुष पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसा का त्याग किये बिना इस भूमण्डल में सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा गया है।"

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पाप लोक्याम् ।।

(अनुशा० १०४।३१)

भीष्मजी कहते हैं—"दूसरों के मर्म पर आघात न करे। क्रूरतापूर्ण बात न बोले औरों को नीचा न दिखावे। जिसके कहने से दूसरों को उद्वेग होता हो वह रुखाई से भरी हुई बात पापियों के लोक में ले जाने वाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत् ।।

(अनुशासन पर्व १०४।३५)

'हीनाङ्ग (अन्धे, काने आदि), अधिकाङ्ग (छांगुर आदि), विद्याहीन, निन्दित, कुरूप, निर्धन और निर्बल मनुष्यों पर आक्षेप करना उचित नहीं है।"

५. उत्तम वाणी का फल—

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ।।

(अनुशा० १४४।२०)

श्री महेश्वरजी उमा से कहते हैं—"जो आजीविका अथवा धर्म के लिए तथा स्वेच्छाचार से भी कभी असत्य-भाषण नहीं करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

(अनुशासन १४४।२२)

"जो किसी की चुगली नहीं खाते और किसी से रूखी, कड़वी और निष्ठुरतापूर्ण बात मुँह से नहीं निकालते, वे सज्जन पुरुष स्वर्ग में जाते हैं।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

(अनुशासन पर्व १४४।२३)

"जो दो मित्रों में फूट डालने वाली चुगली की बातें नहीं करते हैं, सत्य और मैत्रीभाव से युक्त वचन बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग लोक में जाते हैं।"

---

५७. मौन

१. 'मौन' ईश्वर का स्वरूप है, ईश्वर-प्राप्ति मौन रूप से तन्मय (ईश्वरभाव से युक्त) होने पर होती है-

' मौनं चैवास्मि गुह्यानां '

(गीता १०।३८)

भगवान् श्रीकृष्ण विभूति-योग का वर्णन करते हुए कहते हैं—"गुह्य बातों में मैं मौन हूँ।"

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ।।

(उद्यो० ४३।२)

सनत्सुजातजी कहते हैं—"राजन् ! जहां मन के सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुंच पाते, उस परमात्मा का ही नाम **'मौन'** है। इसलिए वही मौन-स्वरूप है। वैदिक तथा लौकिक शब्दों का जहां से प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करने से प्रकाश में आते हैं।"

मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति ।

(शान्ति पर्व ३२०।१९०)

सुलभा तपस्विनी राजा जनक से कहती हैं—"जो वाणी का व्यायाम नहीं करता और जो शान्त पर-ब्रह्म में निमग्न रहता है, वही मुक्त है।'

२. कर्मवीर कहते नहीं वरन् शांतभाव से करके दिखाते हैं—

दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूष्णीं भाति दिवाकरः ।
तूष्णीं धारयते लोकान् बसुधा सचराचरान् ॥

(विराट् ५०।३)

अश्वत्थामाजी कहते हैं—"आग बिना कुछ कहे-सुने ही सबको जलाकर भस्म कर देती है, सूर्यदेव मौन रहकर ही प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी चुप रहकर ही सम्पूर्ण चराचर लोकों को धारण करती है। (इसी प्रकार विद्वान् पुरुष व्यर्थ बकवाद न कर मौनभाव से कार्य करके ही दिखाते हैं)।'

अब्रुवन् वाति सुरभिर्गन्धः सुमनसां शुचिः ।
तथैवाव्याहरन् भाति विमलो भानुरम्बरे ॥

(शान्ति पर्व २८७।२९)

नारदजी गालव मुनि से कहते हैं—"फूलों को पवित्र एवं मनोरम सुगन्ध बिना कुछ बोले ही महक उठती है। निर्मल-सूर्य अपनी प्रशंसा किये बिना ही आकाश में प्रकाशित होने लगते हैं।"

३. अनुचित प्रसंग में न बोलना पाप का भागी होना है-

यो हि प्रश्नं विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृते या फलवाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते॥

(सभा पर्व ६८।६३

विदुरजी कहते हैं—"जो धर्मज्ञ पुरुष सभा में जाकर वहां उपस्थित हुए प्रश्न का उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलने के आधे फल का भागी होता है।"

४. कहां मौन धारण करना उचित है--

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत्॥

(शान्ति पर्व २८७।३५)

नारदजी गालव मुनि से कहते हैं—"बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानवान् होने पर भी बिना पूछे किसी को कोई उपदेश न करे। अन्यायपूर्वक पूछने पर भी किसी के प्रश्न का उत्तर न दे। जड़ की भांति चुपचाप बैठा रहे।"

समत्वे सति राजेन्द्र तयोः सुकृतपापयोः।
गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्तितस्य भवेत् क्षयः॥

(आश्व० दाक्षिणात्यप्रति अध्याय ९२)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"राजेन्द्र! जब पुण्य-पाप दोनों समान होते हैं, तब जिसको गुप्त रखा जाता है, उसकी वृद्धि होती है और जिसका वर्णन कर दिया जाता है, उसका क्षय हो जाता है।"

५८. आतिथेय (अतिथि–सेवा)

१. अतिथि–सेवा महान् धर्म है—

ऋषीणां देवतानां च पितृणां च महात्मनाम् ।
श्रुतः पूर्वं मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥

(शान्ति पर्व १४६।२१)

भीष्मजी कहते हैं—"मैंने ऋषियों, देवताओं पितरों तथा महात्माओं के मुख से पहले सुना है कि अतिथि की पूजा करने में महान् धर्म है ।"

२. अतिथि-सेवा महान् यज्ञ है—

अतिथिः पूजितो यद्धि ध्यायते मनसा शुभम् ।
न तत् क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥

(अनुशासन पर्व २।९२)

भीष्मजी कहते हैं—"यदि अतिथि पूजित होकर मन-ही-मन गृहस्थ के कल्याण का चिन्तन करे तो उससे जो फल मिलता है, उसकी सौ यज्ञों से भी तुलना नहीं हो सकती अर्थात् सौ यज्ञों से भी बढ़कर है । ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है ।"

न तथा हविषा होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथि पूजनात् ॥

(आश्वमेधिक पर्व दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"पार्थ ! अतिथि की पूजा करने से अग्नि देव को जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी हविष्य से होम करने तथा फूल और चन्दन चढ़ाने से भी नहीं होती ।

अभ्यागतं श्रान्तमनु व्रजन्ति देवाश्च सर्वे पितरोऽग्नयश्च ।
तस्मिन् द्विजे पूजिते पूजिताः स्युर्गते निराशाः पितरो व्रजन्ति ॥

(आश्व० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

"थका हुआ अभ्यागत जब घर पर आता है, तब उसके पीछे-पीछे समस्त देवता पितर और अग्नि भी पदार्पण करते हैं। यदि उस अभ्यागत द्विज की पूजा हुई तो उसके साथ उन देवता आदि की भी पूजा हो जाती है और उसके निराश लौटने पर वे देवता, पितर आदि भी हताश होकर लौट जाते हैं।"

३. शत्रु भी अतिथि के रूप में परम आदरणीय है—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः॥

(शान्ति पर्व १४६।५)

भीष्मजी कहते हैं—"यदि शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसका उचित आदर-सत्कार करना चाहिये। जो काटने के लिये आया हो, उसके ऊपर से भी वृक्ष अपनी छाया नहीं हटाता।"

४. चाण्डाल भी अतिथि के रूप में परम आदरणीय है-

चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया।
अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा॥

(आश्वमे० दा० वैष्णव० ९२)

श्री कृष्णजी कहते हैं—"यदि देश काल के अनुसार अन्न की इच्छा से चाण्डाल भी अतिथि के रूप में आ जाय तो गृहस्थ पुरुष को सदा उसका सत्कार करना चाहिये।"

५. निराश अतिथि गृहस्थ के पुण्यों को लेकर और स्वयं के पापों को देकर जाता है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥

(शान्ति पर्व १९१।१२)

भृगुजी भारद्वाज जी से कहते हैं—"जिस गृहस्थ के दरवाजे से कोई अतिथि निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थ को अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है।"

पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत्।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥

(अनुशासन पर्व २।९३)

भीष्मजी कहते हैं—"जो गृहस्थ सुपात्र और सुशील अतिथि को पाकर उसका यथोचित सत्कार नहीं करता, वह अतिथि उसे अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है।"

६. अतिथि सेवा से महान् पुण्य फल की प्राप्ति—

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्ट पूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत्॥

(वन० पर्व २।६२)

शौनकजी युधिष्ठिरजी से कहते हैं—"जो गृहस्थ अपरिचित थके मांदे पथिक को प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है, उसे महान् पुण्य फल की प्राप्ति होती है।"

गवां फलं तीर्थफलं यज्ञानां चैव यत् फलम्।
एतत् फलमाप्नोति यो नरोऽतिथिपूजकः॥

(अनुशासन पर्व १२५।१५)

भीष्मजी कहते हैं—"जो मानव अतिथियों का पूजन करता है, वह गोदान, तीर्थस्नान और यज्ञानुष्ठान का फल पा लेता है।"

५६. दान

१. दान का महत्त्व--

हताशो ह्यकृतार्थः सन् हतः सम्भावितो नरः।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाकुर्वतो हितम् ॥

(उद्योग पर्व ११५।१०)

नारदजी कहते हैं—"कोई श्रेष्ठ पुरुष जब कहीं याचना करके हताश एवं असफल हो जाता है, तब वह मरे हुए के समान हो जाता है और अपना हित न करने वाले धनी के पुत्रों तथा पौत्रों का नाश कर डालता है।"

तपः परम् कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम्।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

(शान्ति पर्व २३१।२८)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"सत्ययुग में तपस्या को ही सबसे बड़ा धर्म माना है। त्रेता में ज्ञान को ही उत्तम बताया गया है। द्वापर में यज्ञ और कलियुग में एक मात्र दान को ही श्रेष्ठ कहा गया है।"

नानुप्तं रोहते सस्यं तद्वद् दानफलं विदुः।
यद् यद् ददाति पुरुषस्तत् तत् प्राप्नोति केवलम् ॥

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

महादेवजी कहते हैं—"जैसे बीज बोये बिना खेती नहीं उपजती, यही बात दान के विषय में भी समझनी चाहिए—दिये

बिना किसी को कुछ नहीं मिलना। मनुष्य जो-जो देता है, केवल उसी को पाता है।"❀

२. दान के प्रकार—

(क) सात्त्विक दान—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
(गीता १७।२०)

भगवान् श्री कृष्णजी कहते हैं—"दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र (जिसके पास जहाँ जिस वस्तु का अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तु के दान का पात्र है; जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी क्रमशः अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाह योग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदान के पात्र हैं) के प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।"

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥
(वन पर्व ३१।२)

❀ कथा है कि द्रौपदी ने एक बार भगवान् श्रीकृष्ण जी की अंगुली में खून आने पर अपनी साड़ी से एक कपड़े का टुकड़ा फाड़कर उन्हें दिया था। भगवान् पर वही ऋण बढ़ते-बढ़ते महान् हो गया और उसीसे उऋण होने के लिए उन्होंने द्रौपदी के चीर-हरण के समय वस्त्रों का ढेर लगा दिया, जिसे खैंचता-खैंचता दुःशासन भी थक गया।

युधिष्ठिरजी द्रौपदी से कहते हैं–"हे राजपुत्री ! मैं कर्मों के फल की इच्छा रखकर उनका अनुष्ठान नहीं करता, अपितु 'देना कर्त्तव्य है' यह समझकर दान देता हूँ और यज्ञ को भी कर्तव्य मानकर ही उसका अनुष्ठान करता हूं।"

कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः।।
क्रियानियमितान् साधून पुत्रदारैश्च कर्शितान्।
अयाचमानान् कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत्।।

(अनुशासन पर्व ५९।११–१२)

भीष्मजी कहते हैं—"विद्वान् होने पर भी जिसकी आजीविका क्षीण हो गई है तथा जो दीन, दुर्बल और दुःखी है, ऐसे मनुष्य की जो भूख मिटा देता है, उस पुरुष के समान कोई पुण्यात्मा नहीं है। कुन्ती नन्दन ! जो स्त्री-पुत्रों के पालन में असमर्थ होने के कारण विशेष कष्ट उठाते हैं; परन्तु किसी से याचना नहीं करते और सदा सत्कर्मों में ही संलग्न रहते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषों को प्रत्येक उपाय से सहायता देने के लिये निमन्त्रित करना चाहिये।

यस्तु दद्यादकुप्यन् हि तस्य लोकाः सनातनाः॥
क्रोधो हन्ति हि यद् दानं तस्माद् दानात् परं दमः।

(अनुशासन पर्व ७५।१५½)

"जो दाता बिना क्रोध किये दान करता है, उसे सनातन (नित्य) लोक प्राप्त होते हैं। दान करते समय यदि क्रोध आजाय तो वह दान के फल को नष्ट कर देता है; इसलिये उस क्रोध को दवाने वाला जो दम नामक गुण है, वह दान से श्रेष्ठ माना गया है। (अतः क्रोधरहित होकर दान करना चाहिए)।"

यथा हि सुकृते क्षेत्रे फलं विन्दति मानवः ।
एवं दत्त्वा श्रुतवतिफलं दाता समश्नुते ।।
(अनुशासन पर्व १२१।१०)

व्यासजी मैत्रेयजी से कहते हैं—"जैसे मनुष्य अच्छी तरह जोंत कर तैयार किये हुए खेत में बीज डालने पर उसका फल पाता है, उसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मण को दान देकर दाता निश्चय ही उसके फल का भागी होता है।"

दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति ।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा ।।
(अनुशा०पर्व १३८।१०)

भीष्मजी कहते हैं—"यह बेचारा बड़ा गरीब है और मुझ से याचना कर रहा है। थोड़ा देने से भी संतुष्ट हो जायगा—**यह सोच कर दरिद्र मनुष्य के लिये सर्वथा दयावश (किसी भी प्रकार का फल न चाहता हुआ) दान देना चाहिये।"**

मुच्येदापदमापन्नो येन पात्रं तदस्य तु ।
अन्नस्य क्षुधितं पात्रं तृषितं तु जलस्य वै ।।
(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १४५)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—"जिस वस्तु के पाने से आपत्ति में पड़ा हुआ मनुष्य आपत्ति से छूट जाय, उस वस्तु का वही पात्र है। भूखा मनुष्य अन्न का और प्यासा जल का पात्र है।

यथाम्बुबिन्दुभिः सूक्ष्मैः पतद्भिर्मेदिनीतले ।
केदाराश्च तटाकानि सरांसि सरितस्तथा ।।
तोयपूर्णानि दृश्यन्ते अप्रतर्क्यानि शोभने ।
अल्पमल्पमपि ह्येकं दीयमानं विवर्धते ।।
(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४१)

"शोभने ! जैसे भूतल पर वर्षा के समय गिरती हुई जल की छोटी-छोटी बूँदों से ही खेतों की क्यारियाँ, तालाव, सरोवर

और सरिताएँ अतर्क्य भाव से जलपूर्ण दिखाई देती हैं, उसी प्रकार एक-एक करके थोड़ा-थोड़ा दिया हुआ दान भी बढ़ जाता है।"

(ख) राजस दान —

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ।।

(गीता १७।२१)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।"

(ग) तामस दान—

अदेश काले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ।।

(गीता १७।२२)

"जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देशकाल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।"

३. दान किस स्थिति में करना योग्य है—

अपीड़यन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम ।
पीड़यन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ।।

(अनुशासन पर्व ३७।३)

भीष्मजी कहते हैं—'परन्तु हमने सुना है कि जिनके भरण-पोषण का अपने ऊपर भार है, उस समुदाय को कष्ट दिये बिना ही दाता को दान करना चाहिये। **जो पोष्य वर्ग को कष्ट देकर या भूखे मार कर दान करता है, वह अपने आपको नीचे गिराता है।'**

५. विविध प्रकार के दानों का महत्व—

(क) अन्न-दान का महत्व—

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
आर्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ।।

(अनुशासन पर्व ६३।१४)

नारदजी कहते हैं—"जो मनुष्य कष्ट में पड़े हुए अपरिचित राही को प्रसन्नतापूर्वक अन्न देता है, उसे महान् धर्म की प्राप्ति होती है ।

प्राणान् ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने ।।

(अनुशासन पर्व ६३।४२)

"भरत श्रेष्ठ ! जो घर पर आये हुए याचक को अन्न देता है, वह सब प्राणियों को प्राण और तेज का दान करता है ।"

प्राणान् दत्त्वा कपोताय यत् प्राप्तं शिबिना पुरा ।
तां गतिं लभते दत्त्वा द्विजस्यान्नं विशाम्पते ।।

(अनुशा० पर्व ६७।१०)

भीष्मजी कहते हैं—"पूर्वकाल में राजा शिबि ने कबूतर के लिये प्राण-दान देकर जो उत्तम गति पाई थी, ब्राह्मण को अन्न देकर दाता उसी गति को प्राप्त कर लेता है ।

(ख) जल का दान—

पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत् ।
तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तड़ागानि च खानयेत् ।।

(अनुशासन पर्व ६५।३)

भीष्मजी कहते हैं—"मनुजी ने कहा है—जल का दान सब दानों से बढ़कर है । इसलिये कुएँ, बावड़ी और पोखरे खुदवाने चाहिये ।"

तटाके यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम् ।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ।।

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय ९६)

"जिसके जलाशय में प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा तृषित मृग, पक्षी एवं मनुष्य अपनी प्यास बुझाते हैं, वह अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है।

निदाघकाले सलिलं तटाके यस्य तिष्ठति ।
वाजपेय फलं तस्य वै ऋषयोऽब्रुवन् ।।

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय ९६)

"जिसके तालाब में गर्मी भर पानी रहता है, उसके लिये ऋषियों ने वाजपेय यज्ञ के फल की प्राप्ति बताई है।"

(ग) विद्या-दान—

अनुरूपाय शिष्याय यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
यथोक्तस्य प्रदानस्य फलमानन्त्यमश्नुते ।।

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

श्री महेश्वर कहते हैं—"जो सुयोग्य शिष्य को विद्या-दान करता है, उसे शास्त्रोक्त दान का अक्षय फल प्राप्त होता है।

दापनं त्वथ विद्यानां दरिद्रेभ्योऽर्थवेदनैः ।
स्वयं दत्तेन तुल्यं स्यादिति विद्धि शुभानने ।।

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

"शुभानने ! निर्धन छात्रों को धन की सहायता देकर विद्या प्राप्त कराना भी स्वयं किए हुए विद्यादान के समान है, ऐसा समझो।"

(घ) औषध-दान—

औषधानां प्रदानात् तु सततं कृपयान्वितः ।
भवेद् व्याधिविहीनश्च दीर्घायुश्च विशेषतः ।।

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

श्री महेश्वर कहते हैं—"जो सदा कृपापूर्वक रोगियों को औषध प्रदान करता है, वह रोगहीन और विशेषतः दीर्घायु होता है।"

(ङ) विद्यालय, धर्मशाला, गौशाला आदि बनवाना—

वेदगोष्ठाः सभाः शाला भिक्षूणां च प्रतिश्रयम्।
यः कुर्याल्लभते नित्यं नरः प्रेत्य शुभं फलम्॥

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासत पर्व अध्याय १४५)

श्री महेश्वर कहते हैं—"जो मनुष्य वेद-विद्यालय, सभा-भवन, धर्मशाला तथा भिक्षुओं के लिये आश्रम बनवाता है, वह मृत्यु के पश्चात् शुभ फल पाता है।

विविधं विविधाकारं भक्ष्यभोज्य गुणान्वितम्।
रम्यं सदैव गोवाटं यः कुर्याल्लभते नरः॥
प्रेत्यभावे शुभां जातिं व्याधिमोक्षं तथैव च।
एवं नानाविधं द्रव्यं दानकर्ता लभेत् फलम्॥

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

"जो मानव उत्तम भक्ष्य-भोज्य सम्बन्धी गुणों से युक्त तथा नाना प्रकार की आकृति वाली भाँति-भाँति की रमणीय गौशालाओं का सदैव निर्माण करता है, वह मृत्यु के पश्चात् उत्तम जन्म पाता और रोग-मुक्त होता है। इस प्रकार भाँति-भाँति के द्रव्यों का दान करने वाला मनुष्य पुण्यफल का भागी होता है।"

(च) वृक्षारोपण—

कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव शुभं फलम्।
लभ्यते नाकपृष्ठे च पितृभिश्च महीयते॥
देवलोक गतस्यापि नाम तस्य न नश्यति।

अतीतानागतांश्चैव पितृवंशांश्च भारत ।।
तारयेत् वृक्षरोपी तु तस्माद् वृक्षान् प्ररोपयेत् ।

(दाक्षिणात्यप्रति अनुशासन पर्व अध्याय ९६)

भीष्मजी कहते हैं—"भरतनन्दन ! वृक्ष लगाने से मनुष्य-लोक में कीर्ति बनी रहती है और मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक में शुभ फल की प्राप्ति होती है। वृक्ष लगाने वाला पुरुष पितरों द्वारा भी सम्मानित होता है। देवलोक में जाने पर भी उसका नाम नष्ट नहीं होता। वह अपने बीते हुए पूर्वजों और आनेवाली सन्तानों को भी तार देता है। अतः वृक्ष अवश्य लगाने चाहिये।

तस्यपुत्रा भवन्त्येव पादपा नात्र संशयः ।।
परलोकगतः स्वर्गे लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ।

(दाक्षि० अनुशासन पर्व अध्याय ९६)

"जिसके कोई पुत्र नहीं है, उसके भी वृक्ष ही पुत्र होते हैं, इसमें संशय नहीं है। वृक्ष लगाने वाला पुरुष परलोक में जाने पर स्वर्ग में अक्षय लोकों को प्राप्त होता है।

पुष्पैः सुरगणान् वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन् ।।
छायया चातिथींस्तात पूजयन्ति महीरुहाः ।

(दाक्षि० अनुशा० अध्याय ९६)

"तात ! वृक्ष अपने फूलों से देवताओं का, फलों से पितरों का तथा छाया से अतिथियों का सदा पूजन करते रहते हैं।

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ।।
वृक्षदान् पुत्र वद् वृक्षाः तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात् तटाके वृक्षा वै रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ।।

(दाक्षि० अनुशा० अध्याय ९६)

"फल और फूलों से भरे हुए वृक्ष इस जगत् में मनुष्यों को तृप्त करते हैं। जो वृक्ष दान करते हैं, उनको वे वृक्ष परलोक

में पुत्र की भाँति पार उतारते हैं। अतः कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुष को सदा ही सरोवर के किनारे वृक्ष लगाना चाहिये।"

(छ) प्राणदान—

गोकृते स्त्रीकृते चैव गुरुविप्रकृतेऽपि वा ।
हन्यन्ते ये तु राजेन्द्र शक्रलोकं व्रजन्ति ते ।।

(दाक्षि० आश्वमेधिक० अध्याय ९२)

श्रीकृष्ण जी कहते हैं—'राजेन्द्र ! जो मनुष्य गौ, स्त्री, गुरु और ब्राह्मण की रक्षा के लिये प्राण दे डालते हैं, वे इन्द्रलोक में जाते हैं।'

---

६०. गौ-सेवा *

१. गौ-सेवा का महत्त्व—

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ।।
इत्याचम्य जपेत् सायं प्रातश्च पुरुषः सदा ।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात् स परिमुच्यते ।।

(अनुशासन पर्व ८०।३-४)

---

* गो-माहत्म्य से भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है। वेद भगवान् ने कहा है—'गावो विश्वस्य मातरः' अर्थात् गाय विश्व की माता है। गो-सेवा के द्वारा ही रानी का वन्ध्यत्व दूर होकर महाराज दिलीप को सन्तति प्राप्त हुई थी।

(आगे भी देखिये)

वशिष्ठजी कहते हैं—"गौएँ मेरे आगे रहें, गौएँ मेरे पीछे भी रहें। गौएँ मेरे चारों ओर रहें और मैं गौओं के बीच में निवास करूँ—इस प्रकार प्रतिदिन जप करने वाला मनुष्य दिन भर में जो पाप करता है, उससे छुटकारा पा जाता है।"

गाय के दूध, दही, घी, गोबर एवं मूत्र में अनेक रोगों के शमन करने की शक्ति है। यथाः—

गो दुग्ध—

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥

(अथर्व १।२२।१)

लाल रंग की धेनु के दूध, दही और घी आदि के सेवन से हृदय रोग तथा पाण्डुरोग दूर होते हैं।

वृष्यं बृंहणमग्निदीपनकरं पूर्वाह्णकाले पयो
मध्याह्ने तु बलावहं कफहरं पित्तापहं दीपनम्।
बाले वृद्धिकरं क्षयेऽक्षयकरं वृद्धेषु रेतोवहं
रात्रौ पथ्यमनेकदोषशमनं क्षीरं सदा सेव्यते॥ (भावप्रकाश)

गाय का दूध दोपहर के पहले वीर्यवर्द्धक और अग्निदीपक तथा दोपहर को बलकारक, कफ का नाश करने वाला, पित्त को हरने वाला और मन्दाग्नि को नष्ट करने वाला है। बालकपन में वृद्धि करने वाला और बुढ़ापे में क्षय-नाशक तथा वीर्यवर्धक है। रात्रि में सेवन करने से बहुत से दोषों को दूर करता है। दूध सदा सेवनीय है।

'गवां क्षीरं प्रशस्यते' —काश्यप संहिता

गायों का दूध (अन्य पशुओं के दूध से) श्रेष्ठ है।

गोक्षीरमनभिष्यन्दि स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्। (सुश्रुत

गाश्च शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः ।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान् ।।

(अनुशासन पर्व ८१।३३)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"जो पुरुष गौओं की सेवा और सब प्रकार से उनका अनुगमन करता है, उस पर संतुष्ट होकर गोएँ उसे अत्यन्त दुर्लभ वर प्रदान करती हैं।

गाय का दूध दस्त को बाँधने वाला, स्निग्ध (चिकना), भारी **औषधगुण-सम्पन्न, रक्त-पित्त का शमन करने वाला,** शीतल, स्वादु **और परिणाम में मधुर, जीवन बढ़ाने वाला और वात-पित्त के विकारों को नष्ट करने वाला कहा गया है।**

गो-दुग्ध के एक पाश्चात्य विशेषज्ञ मिस्टर राल्फ०ए० लिखते हैं—'यदि आप अपनी सन्तानों को शक्तिशाली और बलवान बनाना चाहते हैं तो उन्हें गाय का दूध और मक्खन रोज तीन बार खाने को दीजिए।'

भैंस के दूध में पाचन के लिए आवश्यक शर्करा का परिमाण कम होता है और पाचन-क्रिया मन्द करने वाले केसीन और फैट अधिक मात्रा में होती है। **इसलिये भैंस का दूध पचाने में हड्डियों के अनेक क्षार चूस लिये जाते हैं। फलतः शरीर की जीवन-शक्ति और सहनशक्ति कम हो जाती है, जिसका किसी भैंसे को देखने से पता लग सकता है।**

'अपनी सन्तान का हार्दिक कल्याण चाहने वाले माता-पिता को अपनी सन्तान को कभी भैंस का दूध नहीं पिलाना चाहिए। **भैंस का दूध मनुष्यों के लिये उपयोगी पेय नहीं है।'** —ईसा ट्वीड

अमेरिका के प्रसिद्ध **बर्नार मैकफैडन ने** 'Miracle of Milk' (दूध का चमत्कार) नाम की पुस्तक लिखी है। दुग्ध-चिकित्सा अर्थात् गाय का दूध पीने से अस्थि-क्षय, पाण्डुरोग, रक्ताल्पता, क्षय एवं अन्य कई प्रकार के रोग दूर किये जाते हैं।

(आगे भी देखिये)

गो दुग्ध का दही—

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम् ।
वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुचिप्रदम् ॥ —सुश्रुत

गो-दुग्ध का दही स्निग्ध, परिणाम में मधुर, पाचन-शक्ति बढ़ाने वाला, बलवर्द्धक, बात को हरने वाला, पवित्र और रुचिकारक है।

गाय का घी—

विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम् ।
चाक्षुष्यमग्र्यं बल्यञ्च गव्यं सर्पिगुणोत्तरम् ॥

गाय का घी गुणों में सर्वश्रेष्ठ है, वह शीतल, वात-पित्त और विष का नाश करनेवाला, आँख की ज्योति और शरीर के सामर्थ्य को बढ़ाने वाला है।

गोबर—

इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० जी० ई० बीगेंड़ ने गोबर के अनेक प्रयोग कर सिद्ध किया है कि ताजे गोबर से तपेदिक और मलेरिया के जन्तु तुरत मर जाते है।............प्राथमिक अवस्था के जन्तु तो गोबर की गन्ध से ही मर जाते हैं। गोबर के इस अलौकिक गुण के कारण इटली के अधिकांश सेनिटोरियनों में गोबर का ही उपयोग करते हैं। इटली में अब भी हैजा या अतिसार के रोगी को ताजे पानी में ताजा गोबर घोलकर पिलाते हैं और जिस तालाब के पानी में हैजे के जन्तु उत्पन्न हो गये हों, उनमें गोबर डालते हैं।............गोबर से फोड़ा-फुंसी, घाव, दंश, चक्कर, लचक आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। डा० मैकफर्सन ने दो वर्ष तक गोबर का संशोधन कर उसका इतिवृत्त 'न्यूयार्क टाइम्स' में छपाया है।............सिद्ध किया है कि गोबर से बढ़कर जीवाणु-नाशक कोई दूसरा उपयुक्त द्रव्य नहीं है।

पुत्रकामश्च लभते पुत्रं धनमथापि वा।
पतिकामा च भर्तारं सर्वकामांश्च मानवः।
गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति सेविता वै न संशयः॥

(अनुशा० ८१।४५)

"पुत्र की इच्छा रखने वाला पुत्र और धन चाहने वाला धन पाता है। पति की इच्छा रखनेवाली स्त्री को मन के अनुकूल पति मिलता है। सारांश यह कि गौओं की आराधना करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। गौएँ मनुष्यों द्वारा सेवित और संतुष्ट होकर उन्हें सब कुछ देती हैं, इसमें संशय नहीं है।"

अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोक नमस्कृताः॥

(अनुशासन पर्व ५१।३०)

च्यवन ऋषि कहते हैं—"वे विकार-रहित दिव्य-अमृत धारण करती और दूहने पर अमृत ही देती हैं। वे अमृत की आधारभूत हैं। सारा संसार उनके सामने नत-मस्तक होता है।"

गौ-मूत्र—

पेट की हर एक व्याधि के लिए गोमूत्र रामबाण है।

गव्यं सुमधुरं किञ्चिद् दोषघ्नं कृमिकुष्ठनुत्।
कण्डूघ्नं शमयेत् पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम्॥

(चरक संहिता)

कृमिरोग, कुष्ठरोग, खुजली और पील्हा-रोग में गोमूत्र का सेवन करने से रोग दूर हो जाता है।

इस प्रकार जीवनदायी गोमाता की सेवा से सर्व रोगों से बचे रहकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

(कल्याण के 'गो-अंक से संगृहीत)

२. गौ लक्ष्मी की जड़ हैं—

गावोलक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हवि ॥
(अनुशासन पर्व ५१।२८)

च्यवन ऋषि कहते हैं—"गौएँ सदा लक्ष्मी की जड़ हैं। उनमें पाप का लेशमात्र भी नहीं है। गौएँ ही मनुष्यों को सर्वदा अन्न और देवताओं को हविष्य देने वाली हैं।"

दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः ।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ॥
(अनुशासन० ८२।२५)

श्री लक्ष्मीजी कहती हैं—"सुखदायिनी गौओ! धन्य-भाग्य जो तुम लोगों ने मुझ पर कृपापूर्ण प्रसाद प्रकट किया। ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारे गोबर और मूत्र में ही निवास करूँगी। तुमने मेरा मान रख लिया, अतः तुम्हारा कल्याण हो।"

३. गौ स्वर्ग की सोपान हैं—

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः ।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किंचित् परं स्मृतम् ॥
(अनुशासन पर्व ५१।३३)

च्यवन ऋषि कहते हैं—"गौएँ स्वर्ग की सीढ़ी हैं। गौएँ स्वर्ग में भी पूजी जाती हैं। गौएँ समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली देवियाँ हैं। उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है।"

४. गौ ऋषि-तुल्य हैं—

उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥
(अनुशासन पर्व ५१।२६)

राजा नहुष के च्यवन ऋषि से यह कहने पर कि—मैंने एक गौ देकर आपको खरीद लिया, अतः उठिये, उठिये ! मैं यही आपका उचित मूल्य मानता हूँ—इस पर च्यवन ऋषि कहते हैं– "निष्पाप राजेन्द्र ! अब मैं उठता हूँ। आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है। अपनी मर्यादा से कभी च्युत् न होने वाले नरेश ! मैं इस संसार में गौओं के समान दूसरा कोई धन नहीं देखता हूँ।"

५. गौ सम्पूर्ण प्राणियों की माता है—

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥

(अनुशा० ६९।७)

भीष्मजी कहते हैं—"गौएँ सम्पूर्ण प्राणियों की माता कहलाती हैं। वे सबको सुख देने वाली हैं। जो अपने अभ्युदय की इच्छा रखता हो, उसे गौओं को सदा दाहिने करके चलना चाहिये।"

६. गौ-भक्त और गौ-सेवक की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण होती हैं—

गोषु भक्तश्च लभते यद् यदिच्छति मानवः।
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च ताश्च काममवाप्नुयुः॥

(अनुशा० ८३।५०)

ब्रह्माजी कहते हैं—"गौ-भक्त मनुष्य जिस-जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह सब उसे प्राप्त होती हैं, स्त्रियों में भी जो गौओं की भक्त हैं, वे मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण कर लेती हैं।"

७. गौओं के प्रति सद्व्यवहार—

संताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत ।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात् पूज्याः सदैव हि ॥

(अनुशा० ६९।८)

भीष्मजी कहते हैं—'गौओं को लात न मारे। उनके बीच में होकर न निकले ! वे मंगल की आधारभूत देवियाँ हैं, अतः उनकी सदा ही पूजा करनी चाहिये।"

क्षीरं तु बालवत्सानां ये पिबन्तीह मानवाः ।
न तेषां क्षीरपाः केचिज्जायन्ते कुलवर्धनाः ।
प्रजाक्षयेण युज्यन्ते कुलवंशक्षयेण च ॥

(अनुशासन पर्व १२५।६६-६७)

बृहस्पतिजी कहते हैं—"जो मनुष्य छोटे बछड़े वाली गौओं का दूध दुह कर पी जाते हैं, उनके वंश में दूध पीने वाले और कुल की वृद्धि करने वाले कोई बालक नहीं उत्पन्न होते हैं। उनकी सन्तान नष्ट होजाती है तथा उनके कुल एवं वंश का क्षय हो जाता है।"

वाहयेद्धुङ्कृतेनैव शाखया वा सपत्रया ।
न दण्डेन न वा यष्ट्या न पाशेन न वा पुनः ॥
न क्षुत्तृष्णाश्रमश्रान्तान् वाहयेद्विकलेन्द्रियान् ।
अतृप्तेषु न भुञ्जीयात् पिबेत् पीतेषु चोदकम् ॥

(आश्वमेधा० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

श्री कृष्णजी कहते हैं—'गाड़ी में जुते रहने पर उन बैलों को हुंकार की आवाज देकर अथवा पत्ते वाली टहनी से हाँके। डंडे से, छड़ी से और रस्सी से मार कर न हाँके। जब बैल भूख-प्यास और परिश्रम से थके हुए हों तथा उनकी इन्द्रियाँ घबरायी हुई हों, तब उन्हें गाड़ी में न जोते। जब तक बैलों को खिला-

कर तृप्त न करले, तब तक स्वयं भी भोजन न करे। उन्हें पानी पिला कर ही स्वयं जल-पान करे।'

(८) गौ-हिंसकों को मिलने वाली गति—

घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते ।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद् वर्षाणि मज्जति ॥

(अनुशासन ७४।४)

ब्रह्माजी कहते हैं—"गौ की हत्या करने वाले, उनका मांस खाने वाले तथा गौ-हत्या का अनुमोदन करने वाले लोग (आधुनिक काल में चर्म की वस्तुओं का प्रयोग करना एक प्रकार से गौ-हत्या का अनुमोदन करना ही है) गौ के शरीर में जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षों तक नरक में डूबे रहते हैं।"

(९) गौ-दान का महत्व—

स्वकर्मभिर्मानवं संनिरुद्धं तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वायुयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥

(अनुशासन ५७।३१)

भीष्मजी कहते हैं—"जैसे महासागर के बीच में पड़ी हुई नाव वायु का सहारा पाकर पार पहुँचा देती है, उसी प्रकार अपने कर्मों से बँधकर घोर अन्धकारमय नरक में गिरते हुए मनुष्य को गोदान ही परलोक में पार लगाता है।"

पीतोदकां जग्धतृणां नष्टक्षीरां निरिन्द्रियाम् ।
जरारोगोपसम्पन्नां जीर्णां वापीमिवाजलाम् ।
दत्त्वा तमः प्रविशति द्विजं क्लेशेन योजयेत् ॥

(अनुशा० ७७।५-६)

"जिसका घास खाना और पानी पीना प्रायः समाप्त हो चुका हो, जिसका दूध नष्ट हो गया हो, जिसकी इन्द्रियाँ काम न दे सकती हों, जो बुढ़ापा और रोग से आक्रान्त होने के कारण

शरीर से जीर्ण-शीर्ण हो बिना पानी की बावड़ी के समान व्यर्थ हो गई हों, ऐसी गौ का दान करके मनुष्य ब्राह्मण को व्यर्थ कष्ट में डालता है और स्वयं भी घोर नरक में पड़ता है।

वत्सलां गुणसम्पन्नां तरुणीं वस्त्रसंयुताम्।
दत्त्वेदृशीं गां विप्राय सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
(अनुशा० ७७।४)

"बेटा! वात्सल्य भाव से युक्त, गुणवती और जवान गाय को वस्त्र ओढ़ा कर उसका दान करे। ब्राह्मण को ऐसी गाय का दान करके मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।"

१६. गौ के नाम कीर्तन की महिमा–

नाकीर्तयित्वा गाः सुप्यात् तासां संस्मृत्य चोत्पतेत्।
सायंप्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात्॥
(अनुशा० ७८।१६)

वशिष्ठजी कहते हैं—"गौओं का नाम कीर्तन किये बिना न सोये। उनका स्मरण करके ही उठे और सबेरे शाम उन्हें नमस्कार करे। इससे मनुष्य को बल एवं पुष्टि प्राप्त होती है।"

---

६१. तीर्थ (स्थावर और जंगम)

१. दो प्रकार के तीर्थ—

द्विविधं तीर्थमित्याहुः स्थावरं जङ्गमं तथा।
स्थावराज्जङ्गमं तीर्थं ततो ज्ञानपरिग्रहः।।
(आश्व० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"दो प्रकार के तीर्थ बताये जाते हैं—स्थावर (भौतिक) और जङ्गम (सजीव)। स्थावर तीर्थ से जङ्गम तीर्थ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनसे ज्ञान की प्राप्ति होती है।"

२. भौतिक या स्थावर तीर्थ— *

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ।।

(वनपर्व ८५।९६)

पुलस्त्य ऋषि कहते हैं—"गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं । भगवान् विष्णु से बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणों (ब्रह्मज्ञानियों) से उत्तम कोई नहीं हैं, ऐसा ब्रह्माजी का कथन है ।"

३. जङ्गम (सजीव) व मानसिक तीर्थ—

गुरुतीर्थं परं ज्ञानमतस्तीर्थं न विद्यते ।
ज्ञानतीर्थं परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ।।

(आश्व० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"गुरु रूपी तीर्थ से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये उससे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है । ज्ञानतीर्थ सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है और ब्रह्मतीर्थ सनातन है ।

पितृशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणं तथा ।
दाराणां तोषणं तीर्थं गार्हस्थ्यं तीर्थमुच्यते ॥

(आश्व० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

"पिता की सेवा तीर्थ है, माता की सेवा तीर्थ है तथा स्त्रियों को संतुष्ट रखना और गृहस्थ धर्म का पालन करना—ये सब तीर्थ कहे गये हैं ।

---

* स्थावर तार्थों का महाभारत में विस्तार से वर्णन है । यहां संक्षेप से सर्वश्रेष्ठ तीर्थ का कथन मात्र किया गया है । जिन्हें इस विषय में विस्तार पूर्वक जानकारी करनी हो वे महाभारत से देखने की कृपा करें ।

आतिथेयः परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते ॥

(आश्व० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

"अतिथि-सेवा में लगे रहना परम तीर्थ है। वेद का अध्ययन सनातन तीर्थ है। ब्रह्मचर्य का पालन करना परम तीर्थ है। आहवनीयादि तीन प्रकार की अग्नियाँ—ये तीर्थ कहे जाते हैं।

क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव।
क्षमावतारमयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥

(आश्व० दाक्षिणात्य प्रति अध्याय ९२)

"पाण्डुनन्दन ! समस्त तीर्थों में क्षमा सबसे बड़ा तीर्थ है। क्षमाशील मनुष्यों को इस लोक और परलोक में भी सुख मिलता है।"

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृति ह्रदे।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥

(अनुशा० १०८।३)

भीष्मजी कहते हैं—"जिसमें धैर्यरूप कुण्ड और सत्यरूप जल भरा हुआ है तथा जो अगाध, निर्मल एवं अत्यन्त शुद्ध है, उस मानस तीर्थ में सदा परमात्मा का आश्रय लेकर स्नान करना चाहिये।

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥

(अनुशा० १०८।४)

"कामना और याचना का अभाव, सरलता, सत्य, मृदुता, अहिंसा, समस्त प्राणियों के प्रति क्रूरता का अभाव (दया), इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह—ये ही इस मानतीर्थ के सेवन से प्राप्त होने वाली पवित्रता के लक्षण हैं।

तत्त्व विस्त्वनहंबुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते ।
(नारायणेऽथ रुद्रे वा भक्तिस्तीर्थं परंमता ।)
शौचलक्षणमेतत् ते सर्वत्रैवान्ववेक्षतः ॥
(अनुशा० १०८।६)

"किन्तु जिनकी बुद्धि में अहंकार का नाम नहीं है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ तीर्थ कहलाता है। भगवान् नारायण अथवा भगवान् शिव में जो भक्ति होती है, वह भी उत्तम तीर्थ मानी गई है। पवित्रता का यह लक्षण तुम्हें विचार करने पर सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होगा।

रजस्तमः सत्त्वमथो येषां निर्धौतमात्मनः ।
शौचाशौचसमायुक्ताः स्वकार्यपरिमार्गिणः ॥
सर्वत्यागेष्वभिरताः सर्वज्ञाः समदर्शिनः ।
शौचेन वृत्तशौचार्थास्ते तीर्थाः शुचयश्च ये ॥
(अनुशा० १०८।७-८)

"जिनके अन्तःकरण से तमोगुण, रजोगुण और सत्त्व-गुण धुल गये हैं अर्थात् जो तीनों गुणों से रहित हैं, जो बाह्य पवित्रता और अपवित्रता से युक्त रहकर भी अपने कर्तव्य का ही अनुसन्धान करते रहते हैं। जो सर्वस्व के त्याग में भी अभिरुचि रखते हैं, सर्वज्ञ और समदर्शी होकर शौचाचार के पालन द्वारा आत्मशुद्धि का सम्पादन करते हैं, वे सत्पुरुष ही परमतीर्थ स्वरूप है।

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥
(अनुशा० १०८।९)

"शरीर को केवल पानी से भिगो लेना ही स्नान नहीं कहलाता है। सच्चा स्नान तो उसी ने किया है, जिसने मन-

इन्द्रिय के संयम-रूपी जल में गोता लगाया है। वही बाहर और भीतर से भी पवित्र माना गया है।

अतीतेष्वनपेक्षा ये प्राप्तेष्वर्थेषु निर्ममाः।
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहाः ॥

(अनुशा० १०८।१०)

"जो बीते या नष्ट हुए विषयों की अपेक्षा नहीं रखते, प्राप्त हुए पदार्थों में ममता-शून्य होते हैं तथा जिनके मनमें कोई इच्छा पैदा नहीं होती, उन्हीं में परम पवित्रता होती है।"

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अकल्कको निरालम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥

(वन पर्व ८२।९ से १२)

पुलत्स्य जी कहते हैं—"जिसके हाथ-पैर और मन अपने काबू में हों तथा जो विद्या, तप और कीर्ति से सम्पन्न हो, वही तीर्थ-सेवन का फल पाता है। जो प्रतिग्रह (दान) से दूर रहे तथा जो कुछ अपने पास हो, उसी से संतुष्ट रहे और जिसमें अहंकार का अभाव हो, वही तीर्थ का फल पाता है। जो दम्भ आदि दोषों से दूर, कर्तृत्व के अहंकार से शून्य, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, वह सब पापों से विमुक्त हो तीर्थ के वास्तविक फल का भागी होता है। राजन्! जिसमें क्रोध न हो, जो सत्यवादी और दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करने वाला हो, तथा

जो सब प्राणियों के प्रति आत्मभाव रखता हो, वही तीर्थ के फल का भागी होता है।"

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥
(उद्योग पर्व ३५।२)

विदुरजी कहते हैं—"राजन्! सब तीर्थों में स्नान और सब प्राणियों के साथ कोमलता का बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं अथवा कोमलता के बर्ताव का विशेष महत्त्व है।"

---

६२. सुख-दुःख

१. संसार अनित्य है—

यथा च मृन्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते।
किञ्चित् प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा ॥
छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा।
आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा ॥
उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥
(स्त्री पर्व ३।१२-१४)

विदुरजी कहते हैं—"जैसे मिट्टी का बर्तन बनाये जाने के समय कभी चाक पर चढ़ाते ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बनने पर, कभी पूरा बन जाने पर, कभी सूत से काट देने पर, कभी चाक को उतारते समय, कभी उतर जाने पर, कभी गीली या सूखी अवस्था में, कभी पकाये जाते समय, कभी आँवा से उतारते समय, कभी पाक स्थान से उठा कर ले जाते समय

अथवा कभी उपयोग में लाते समय फूट जाता है; ऐसी ही दशा देहधारियों के शरीरों की भी होती है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥

(स्त्री पर्व २।३)

"सारे संग्रहों का अन्त उनके नाश में ही है। भौतिक उन्नतियों का अन्त पतन में ही है। सारे संयोगों का अन्त वियोग में ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन का अन्त मृत्यु में ही होने वाला है।"

यच्च पूर्वं समाहारे यच्च पूर्वं परे परे ।
सर्वं तन्नास्ति ते चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत् ॥

(शान्ति पर्व १०४।१५)

कालकवृक्षीय मुनि कहते हैं—"जो वस्तु पहिले बहुत वड़े समुदाय के पास रह चुकी है, तथा जो एक के बाद दूसरे की होती आई है, वह सब की सब तुम्हारी भी नहीं है, इस बात को भली-भाँति समझ लेने पर किसको बारम्बार चिन्ता होगी।"

२. सुख-दुःख का स्वरूप—

न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन् कुतः सुखम् ।
एवं प्रकृति भूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ॥
त्यजतां जीवितं श्रेयो निवृत्ते पुण्यपापके ।

(शान्ति पर्व १५२।१६-१७)

शौनकजी कहते हैं—"इस संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के जब दुःख ही नहीं हैं, तब सुख कहाँ से हो सकता है ? यह सुख और दुःख दोनों ही प्रकृतिस्थ प्राणियों के धर्म हैं, जो कि सब प्रकार के संसर्ग दोष को स्वीकार करके उनके अनुसार चलते हैं। जिन्होंने इस (संसर्ग दोष) को त्याग दिया है, उनके पुण्य-

पाप निवृत्त हो चुके हैं और ऐसे पुरुषों का ही जीवन कल्याण-मय है।"

अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि॥

(वन पर्व ७९।१२)

बृहदश्व मुनि कहते हैं—"पुरुष को मिलने वाले सभी विषय (सुखात्मक अथवा दुःखात्मक) सदा अस्थिर एवं विनाश-शील हैं। यह सोचकर उनके मिलने या नष्ट होने पर तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।"

३. सुख-दुःखों का कारण व्यक्ति स्वयं ही होता है—

आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः।
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृताः॥

(आदि पर्व ७८।३०-३१)

शुक्राचार्य जी देवयानी से कहते हैं—बेटी! सब लोग अपने ही दोष और गुणों से—अशुभ या शुभ कर्मों से—दुःख एवं सुख में पड़ते हैं। मालुम होता हैं, तुमसे कोई बुरा कर्म बन गया था, जिसका बदला तुम्हें इस रूप में मिला है।"❀

४. सुखों के प्रकार (सात्त्विक, राजस और तामस)—

अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

❀ १. 'जीव करम बस सुख दुख भागी।'
२. 'बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा।'
३. काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सबु भ्राता॥
—रामचरितमानस

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहमनात्मनः ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(गीता० १८।३६ से ३९)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है—ऐसा जो सुख है, वह आरम्भ काल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है; इसलिये वह परमात्म विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख 'सात्त्विक' कहा गया है। जो कुछ विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहिले—भोगकाल में—अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है; इसलिये वह सुख 'राजस' कहा गया है। जो सुख भोग-काल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख 'तामस' कहा गया है।"

५. सदा दुःखी कौन है—*

ईर्ष्यी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षड़ेते नित्यदुःखिताः ॥
(उद्यो० ३३।९०)

---

* दो०—ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिश्राम ।
भूत द्रोह रत मोह बस राम बिमुख रति काम ॥
—रामचरितमानस

विदुरजी कहते हैं—"ईर्ष्या करने वाला, घृणा करने वाला, असन्तोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहने वाला और दूसरे के भाग्य पर जीवन निर्वाह करने वाला—ये छः सदा दुःखी रहते हैं।"

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा ॥
अनिवृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि ।
(उद्यो० ७२।६०-६१)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"किसी से वैर बाँधने वाला पुरुष सर्पयुक्त गृह में रहने वाले की भाँति उद्विग्न चित्त होकर सदा दुःख की नींद सोता है।"

सुहृदां हितकामानां वाक्यं यो न शृणोति ह ।
स महद् व्यसनं प्राप्य शोचते वै यथा भवान् ॥
(द्रोण पर्व ११४।४९)

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—"जो हितैषी सुहृदों की बात नहीं सुनता है, वह भारी संकट में पड़ कर आप (धृतराष्ट्र) के ही समान शोक करता है।"

ब्रुवतामप्रियं पथ्यं सुहृदां न शृणोति यः ॥
स शोचत्यापदं प्राप्य यथाहमतिवर्त्य तौ ।
शास्त्रदृष्टानविद्वान् यः समतीत्य जिघांसति ॥
स पथः प्रच्युतो धर्मात् कुपथे प्रति हन्यते ।
(सौप्ति० ६।१९ से २१)

अश्वत्थामा कहते हैं—"जो पुरुष अप्रिय किन्तु हितकर वचन बोलने वाले अपने सुहृदों की सीख नहीं सुनता है, वह विपत्ति में पड़कर उसीतरह शोक करता है, जैसे मैं (अश्वत्थामा) अपने उन दोनों सुहृदों (कृपाचार्य एवं कृतवर्मा) की आज्ञा का उल्लंघन करके कष्ट पा रहा हूं। जो मूर्ख शास्त्रदर्शी पुरुषों की

आज्ञा का उल्लंघन करके दूसरों की हिंसा करना चाहता है, वह धर्म-मार्ग से भ्रष्ट हो कुमार्ग में पड़कर स्वयं ही मारा जाता है।"

६. कल्याण का मार्ग—

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ।।

(सभा पर्व ५४।८)

धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाते हैं—"जो विपत्ति में व्यथित नहीं होता, सदा उद्योगशील बना रहता है, जिसमें प्रमाद का अभाव है तथा जिसके हृदय में विनयरूप सद्गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है।"

उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगाश्चातीव मानुषान् ।।
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्त प्राप्ति सुखं प्राहुर्दःखमन्तरमेतयो ।।

(उद्यो० ९०।९६-९७)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"वे धीर पुरुष कर्त्तव्य पालन के रूप में प्राप्त बड़े-बड़े क्लेशों को सहर्ष सहन करके अन्त में मनुष्यातीत भोगों में रमण करते हैं। महापुरुषों का कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःख से अतीत) स्थिति की प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःख के बीच की स्थिति ही दुःख है।'

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥

(शान्ति पर्व २५।३१)

व्यासजी कहते हैं—सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समय पर क्रम से सब को प्राप्त होते हैं; इसलिये धीर पुरुष इनके लिए हर्ष और शोक न करें।'

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥

(शान्ति पर्व १७४।३९)

भीष्मजी कहते हैं—"अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो जो प्राप्त हो जाँय, उनका हृदय से स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे ।"

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये ॥

(सभापर्व ७८।९)

विदुरजी कहते हैं—"भरत-कुल भूषण युधिष्ठिर ! तुम मुझ से यह जान लो कि अधर्म से पराजित होने वाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजय के लिये दुःखी नहीं होता ।

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम् ।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति ॥

(उद्यो० ३६।४४)

"संताप (शोक) से रूप नष्ट होता है, संताप से बल नष्ट होता है, सन्ताप से ज्ञान नष्ट होता है और संताप से मनुष्य रोग को प्राप्त होता है अतः कभी संताप (शोक) न करे।"

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ॥
सुखं प्रशान्तं स्वपिति हित्वा जयपराजयो ॥

(उद्यो ७२।५९-६०)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"विजय की प्राप्ति भी चिरस्थायी शत्रुता की सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःख से समय बिताता है। जो किसी से शत्रुता न रख कर शान्ति का आश्रय लेता है, वह जय-पराजय की चिन्ता छोड़ कर सुख से सोता है ।"

अशोचन् प्रति कुर्वीत यदि पश्चेत् पराक्रमम् ।
भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ॥
चिन्तमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ।

(स्त्री० २।२७½)

विदुरजी कहते हैं—यदि अपने में पराक्रम देखे तो शोक न करते हुए शोक के कारण का निवारण करने की चेष्टा करे। दुःख को दूर करने के लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय, चिन्तन करने से दुःख कम नहीं होता बल्कि और भी बढ़ जाता है।"

यत् किंचिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् ।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥

(शान्तिपर्व १०४।१३)

कालकवृक्षीय मुनि क्षेमदर्शी राजा से कहते हैं–"तुम जिस किसी वस्तु को ऐसा मानते हो कि 'यह है'—वह सब पहले ही समझ लो कि 'नहीं है' ऐसा समझने वाला विद्वान् पुरुष कठिन विपत्ति में पड़ने पर भी व्यथित नहीं होता।

अवाप्यान् कामयन्नर्थान् नानवाप्यान् कदाचन ।
प्रत्युत्पन्नाननुभवन् मा शुचस्त्वमनागतम् ॥

(शान्ति पर्व १०४।२८)

"मनुष्य पाने योग्य पदार्थों को ही कामना करता है। अप्राप्य वस्तुओं की कदापि नहीं। अतः तुम्हें भी जो कुछ प्राप्त है, उसी का उपभोग करते हुए अप्राप्त वस्तु के लिये कभी चिन्तन नहीं करना चाहिये।"

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले मा हृषः ।।
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्ने न वर्तय ।

(शान्ति पर्व २२७।६५½)

बलि कहता है—"तुम शोक का अवसर आने पर शोक न करो और हर्ष के समय हर्षित मत होओ। भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़ कर वर्तमानकाल में जो वस्तु उपलब्ध हो, उसीसे जीवन-निर्वाह करो।

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्।
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम्॥
(शान्ति पर्व २२७।४१)

"शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्य का उत्पादन करती है, शरीर के निरोग होने से मनुष्य फिर धन-सम्पत्ति का उपार्जन कर लेता है।"

वासयन्त्यतिथीन् नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
(शान्ति पर्व ११०।५)

भीष्मजी कहते हैं—"जो प्रतिदिन अतिथियों को अपने घर में सत्कारपूर्वक ठहराते हैं, कभी किसी के दोष नहीं देखते हैं तथा नित्य नियमपूर्वक वेदादि सद् ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहते हैं, वे दुर्गम संकटों से पार हो जाते हैं।

अनागत विधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति॥
(शान्ति पर्व १३७।२०)

"जो संकट आने से पहिले ही अपने बचाव का उपाय कर लेता है, वह 'अनागत-विधाता' और जिसे ठीक समय पर ही आत्म रक्षा का कोई उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्न मति'—ये दो ही सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं; परन्तु प्रत्येक कार्य में अनावश्यक विलम्ब करने वाला 'दीर्घ-सूत्री' नष्ट हो जाता है।"

धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन् ।
धर्मार्थकामान् योऽभ्यति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ।।

(शल्य० ६०।२२)

बलरामजी कृष्णजी से कहते हैं—"जो मनुष्य काम से अर्थ और धर्म को, अर्थ से धर्म और काम को तथा धर्म से अर्थ और काम को हानि न पहुँचाकर धर्म, अर्थ और काम तीनों का यथोचित रूप से सेवन करता है, वह अत्यन्त सुख का भागी होता है।"

एतान्शोकभयोत्सेकान् मोहनान् सुख-दुःखयोः ।
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टवात् ।।

(शान्ति पर्व २८६।१८)

समङ्ग ऋषि नारदजी से कहते हैं—"शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियों को दुःख में डालकर मोहित करने वाले हैं, इसलिये जब तक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तब तक मैं इन सब को साक्षी की भाँति देखता हूं।"

---

६३. विरति (विरक्ति)

न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ।
मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ।।
जन्मक्षय निमित्तं च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः ।

(शान्ति पर्व ७।४०-४२)

युधिष्ठिर जी कहते हैं—"शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन! श्रुति कहती है कि 'संग्रह-परिग्रह में फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म (परमात्मा का दर्शन) नहीं प्राप्त कर सकता'—इसका मुझे

प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। मैंने परिग्रह (राज्य और धन के संग्रह) की इच्छा रखकर केवल पाप बटोरा है, जो जन्म और मृत्यु का मुख्य कारण है। श्रुति का कथन है कि 'परिग्रह से पाप प्राप्त हो सकता है'।"

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥

(शान्तिपर्व ३२९।२९)

नारदजी शुकदेवजी से कहते हैं—"यहाँ विभिन्न वस्तुओं के संग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संग्रह से महान् दोष प्रकट होते हैं। **रेशम का कीड़ा अपने संग्रह-दोष के कारण ही बन्धन में पड़ता है।"**

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः।
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै सन्तापो नेह विद्यते ॥

(आदि पर्व १५७।२)

"एक न एक दिन संसार में सभी मनुष्यों को अवश्य मरना पड़ेगा, अतः जो बात अवश्य होने वाली है, उसके लिये यहाँ शोक करने की आवश्यकता नहीं है।"

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

(वनपर्व ३१३।११६)

युधिष्ठिरजी यक्ष से कहते हैं—"संसार में रोज-रोज प्राणी यमलोक में जा रहे हैं; किन्तु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहने की इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?"

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ॥
बुदबुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च।

(शान्तिपर्व २७।२९½)

व्यासजी कहते हैं—"जैसे पानी में बुलबुले होते और मिट जाते हैं, उसी प्रकार संसार में उत्पन्न हुए प्राणियों के जो आपस में संयोग होते हैं, उनका अन्त निश्चय ही वियोग में होता है।

मातापितृ सहस्त्राणि पुत्रदारशतानि च ।
अनागतान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ।।
अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्नपश्यामि यो मम ।।

(शान्ति पर्व ३२१।८५-८६)

"हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्र पहिले जन्मों में हो चुके हैं और भविष्य में होंगे । वे हममें से किसके हैं और हम उनमें से किसके हैं ? मैं अकेला हूँ । न तो दूसरा मेरा कोई है और न मैं दूसरे किसी का हूँ । मैं ऐसे किसी पुरुष को नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा ऐसा भी कोई नहीं दिखाई देता जो मेरा हो ।"

नैवास्यकश्चिद् भवितानायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ।।

(शान्तिपर्व २८।३९)

अश्मा ऋषि जनकजी से कहते हैं—"इस जीवन का न तो कोई सम्वन्धी होगा और न यह किसी का सम्बन्धी है। जैसे मार्ग में चलने वालों को दूसरे राहगीरों का साथ मिल जाता है, उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदों का समागम होता है।

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातुकेनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ।।

(शान्ति पर्व २८।५२)

"किसी भी पुरुष को कभी किसी के साथ भी सदा एक स्थान में रहने का सुयोग नहीं मिलता । जब अपने शरीर के

साथ भी बहुत दिनों तक सम्बन्ध नहीं रहता, तब किसी दूसरे के साथ कैसे रह सकता है ?"

नश्यन्त्यतर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव च ॥
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ।
उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ॥
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ।
(शान्ति पर्व २२७।१००-१०२)

बलि इन्द्र से कहते हैं—'धन और भोग नष्ट हो जाते हैं। स्थान और ऐश्वर्य छिन जाते हैं तथा इस जीव-जगत् के जीवन को भी काल आकर हर ले जाता है। ऊँचे चढ़ने का अर्थ है नीचे गिरना तथा जन्म का अन्त है—मृत्यु। जो कुछ देखने में—आता है, सब नाशवान् है, अस्थिर है, तो भी इसका निरन्तर स्मरण रहना कठिन हो जाता है।'

६४. त्याग और त्यागी

१. त्याग का महत्त्व—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥
(वनपर्व २०७।६७)

धर्मव्याध कौसिक मुनि से कहते हैं—"वेद का सार है सत्य, सत्य का सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयम का सार है 'त्याग'। यह 'त्याग' शिष्ट पुरुषों के आचार में सदा रहता है।"

२. त्याग के प्रकार—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्व समाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

(गीता १८।९-१०)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"हे अर्जुन ! शास्त्र-विहित कर्म करना कर्त्तव्य है-इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके जो त्याग किया जाता है—वही 'सात्त्विक' त्याग माना गया है। जो मनुष्य अकुशल कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशय-रहित बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

(गीता १८।८)

"जो कुछ कर्म है—दुःख रूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्त्तव्य-कर्मों का त्याग करे, तो वह ऐसा 'राजस त्याग' करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

(गीता १८।७)

"(निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्म का स्वरूप से त्याग उचित नहीं है, इसलिये मोह के कारण उनका त्याग कर देना 'तामस त्याग' कहा गया है।"

३. सच्चे त्यागी के लक्षण—

> विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
> विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ॥
>
> (वनपर्व २।३१)

शौनकजी युधिष्ठिरजी से कहते हैं—"विषयों के प्राप्त न होने पर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्य को प्राप्त होता है। उसके मनमें किसी के प्रति द्वेष-भाव न होने के कारण वह निर्वैर तथा बन्धन-मुक्त होता है।"

> त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
> ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥
>
> (आदि पर्व ११४।३७-३८)

विदुरजी धृतराष्ट्र से कहते हैं—"कुल (वंश) के हित के लिये एक मनुष्य को त्याग दे। गाँव के भले के लिये एक कुल को त्याग दे। जनपद के लिये एक गाँव की उपेक्षा करदे और आत्म-कल्याण के लिये सारी पृथ्वी को त्याग दे।"

४. कौन से कर्म न त्यागने योग्य हैं—

> यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत् ।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
> एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
> कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
>
> (गीता १८।५-३)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं, वरन् करने योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकी

को भी पवित्र करने वाले हैं। हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत (अभिप्राय) है।"

५. मिथ्याचारी (ढोंगी) कौन हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

(गीता ३।६)

श्रीकृष्णजी कहते हैं–'जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को तो रोकता है, परन्तु उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन मन से करता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी (ढोंगी) कहलाता है।'

६. त्यागने योग्य स्थानादि—

पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
जह्यात् तत् सत्त्ववान् स्थानं शत्रोः सम्मानितोऽपि सन्॥

(शान्ति पर्व १३९।३३)

भीष्मजी कहते हैं—"जहाँ पहिले सम्मान मिला हो, वहीं पीछे अपमान होने लगे तो प्रत्येक शक्तिशाली पुरुष को पुनः सम्मान मिलने पर भी उस स्थान का परित्याग कर देना चाहिये।

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥

(शान्तिपर्व १३९।५३)

"दुष्टा भार्या, दुष्ट पुत्र, कुटिल राजा, दुष्ट मित्र, दूषित सम्बन्ध और दुष्ट देश को दूर से ही त्याग देना चाहिये ।"

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥

(शान्ति पर्व ३२९।४०)

नारदजी कहते हैं—"धर्म और अधर्म को छोड़ो। सत्य और असत्य को भी त्याग दो तथा उन दोनों का त्याग करके जिस (अहंकार) के द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो। अर्थात् 'मैं करता हूं'—इस भावना का त्याग करना ही उत्तम त्याग है। अपने आपको भगवान् के हाथ का एक यंत्र समझे कि करने-कराने वाले तो एकमात्र वही हैं, मैं तो उनके हाथ का एक यन्त्र-मात्र हूँ।"

७. सच्चे त्यागी पुरुषों के उदाहरण (दधीचि, महाराज सगर और अर्जुन)—

ततो दधीचः परमप्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच।
करोमि यद् वो हितमद्य देवाः स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि॥

(वन पर्व १००।२१)

तब महर्षि दधीचि ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन श्रेष्ठ **देवताओं से इस प्रकार कहा**—'देवगण! आज मैं वही करूँगा, जिससे आप लोगों का हित हो। अपने इस शरीर को मैं स्वयं ही त्याग देता हूं।'

मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत्।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम्॥

(वन पर्व १०७।४३)

महाराज सगर दो घड़ी तक अनमने होकर बैठे रहे। फिर मन्त्रियों से इस प्रकार बोले—'आज मेरे पुत्र असमञ्जस् (जो कि प्रजा के बालकों को नदी में डुबो देता है) को मेरे नगर से बाहर निकाल दो।'

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी॥

(वन पर्व ४६।४६)

रात्रि में एकान्त स्थान में उर्वसी के आने पर अर्जुन कहता है—"अनघे! मेरी दृष्टि में कुन्ती, माद्री और शची का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पुरुवंश की जननी होने के कारण आज मेरे लिये परम गुरु-स्वरूप हो।"

---

६५. तप और तपस्वी*

१. सच्चा तप और तपस्वी—

ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्म बुद्धिभिः।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम्॥

(वन पर्व २००।९९)

मार्कण्डेयजी कहते हैं—"जो मन, वाणी, क्रिया और बुद्धि द्वारा कभी पाप नहीं करते हैं, वे ही महात्मा तपस्वी हैं। शरीर को सुखा देना ही तपस्या नहीं है।"

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीस्य शोषणम्॥

(शान्ति पर्व ७९।१८)

भीष्मजी कहते हैं—"किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम

---

*तप का महत्त्व बताते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

..................................तपु सुख प्रद दुख दोष नसावा॥
तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जगत्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महि भारा॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी॥

—रामचरितमानस

में रखना तथा सब के प्रति दया भाव बनाये रखना—इन्हीं को धीर पुरुषों ने तप माना है। केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है।

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम् ॥

(शान्ति पर्व १६१।८)

"अहिंसा, सत्य-भाषण, दान, इन्द्रिय-संयम—इन सबसे बढ़कर तप है और उपवास से बड़ी कोई तपस्या नहीं है।

त्यागश्च संनतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी सदाभवेत् ॥

(शान्ति पर्व २२१।५)

"उनके (श्रेष्ठ पुरुषों के) मत में त्याग और विनय ही तप है। इनका पालन करने वाला मनुष्य नित्य उपवासी और सदा ब्रह्मचारी है।"

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्व धर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥

(शान्ति पर्व २५०।४)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही सबसे बड़ी तपस्या है। यही सब धर्मों से श्रेष्ठतम परमधर्म बताया गया है।"

प्रकाशस्तपसो ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः।
रजस्तमोघ्नं यत् कर्म तपसस्तत् स्वलक्षणम् ॥

(शान्ति पर्व २१७।१६)

भीष्मजी कहते हैं—"लोक में तप शब्द विख्यात है। उस तप का फल है, ज्ञानस्वरूप प्रकाश। रजोगुण और तमोगुण का

नाश करने वाला जो निष्काम कर्म है, वही तपस्या का स्वरूप बोधक लक्षण है।"

२. तप के प्रकार—

शारीरिक तप—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता ७।१४)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी-जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।

वाङ्मय तप—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७।१५)

"जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है, वही वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।

मानस तप—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७।१६)

"मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन सम्बन्धी तप कहा गया है।"

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।
वाङ्‌मनोनियमः सम्यङ्‌मानसं तप उच्यते॥
(शान्ति पर्व २१७।१७)

भीष्मजी कहते हैं—"ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं। मन और वाणी का भलीभाँति किया हुआ संयम मानसिक तप कहलाता है।"

सात्त्विक तप—

श्रद्धया परमा तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्‌क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
(गीता १७।१७)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परमश्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त (शारीरिक, वाङ्‌मय और मानस) तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं।

राजस तप—

सत्कार मानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
(गीता १७।१८)

"जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिये भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फल वाला तप यहां राजस कहा गया है।

तामस तप—

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १७।१९)

"जो तप मूढता पूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

आसुरी (राक्षसी) तप—

अशास्त्रविहितं घोरं तपयन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
(गीता १७।५-६)

"जो मनुष्य शास्त्र-विधि से रहित केवल मनः कल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं। जो शरीर रूप में स्थित भूत-समुदाय को और अन्तः करण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर स्वाभाव वाले जान।"

६६—संन्यास और संन्यासी

१—सच्चा संन्यासी कौन है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥
(गीता ५।३)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आशा करता है, वह कर्म-

योगी ही सदा संन्यासी समझने योग्य है; क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धन से मुक्त होजाता है।"

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥
(शान्ति पर्व ३२६।३९)

शुकदेवजी राजा जनक से कहते हैं—'जैसे कछुआ अपने अङ्गों को फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासी को मन के द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(शान्ति पर्व ३२६।३७-३८)

'जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुति को समान भाव से समझता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरण में भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।'

२—कर्मयोग और संन्यास का समान फल होता है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
(गीता ५।४)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—'संन्यास और कर्मयोग को मूर्ख पृथक्-पृथक् फल देने वाले कहते हैं, न कि पंडितजन, क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है।'

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥
(शान्ति पर्व ३०५।१९)

वशिष्ठजी राजा जनक से कहते हैं—'कर्म-योगी जिस तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, सांख्यवेत्ता विद्वान् भी उसी का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) को फल की दृष्टि से एक समझता है, वही बुद्धिमान् है।'

३. गृहस्थ के कर्त्तव्यों की अवहेलना करके लिया हुआ संन्यास कभी सफल नहीं होता:—

सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय ।
श्रद्दधस्व मम ब्रह्मन् नान्यथा कर्तुमर्हसि ।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ॥
(वनपर्व २१५।१०)

मार्कण्डेय मुनि धर्मव्याध द्वारा कौशिक मुनि को कही गई इस सम्बन्ध की उक्ति युधिष्ठिरजी को कहते हैं—"परन्तु माता-पिता को संतुष्ट न करने के कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः शीघ्र जाकर उन दोनों को प्रसन्न कीजिये। ब्रह्मन्! मेरी बात पर श्रद्धा कीजिये। इसके विपरीत कुछ न कीजिये। ब्रह्मर्षे! आप अपने घर जाइये और माता-पिता की सेवा कीजिये। यह मैं आपके लिये परम कल्याण की बात बता रहा हूं।"

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ५।६)

श्रीकृष्णजी कहते हैं—"परन्तु हे अर्जुन! कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।"

६७—नीति-धर्म *

१—मायावियों के साथ में माया या छल से काम लेना—

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते॥

(वनपर्व ५२।२२)

शठता करने या जानने वाले शत्रुओं को शठता के द्वारा ही मारना चाहिये—यह एक सिद्धान्त है। जो स्वयं दूसरों पर छल-कपट का प्रयोग करता है, उसे छल से भी मार डालने में पाप नहीं बताया है।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(उद्यो० ३७।७)

---

* १. दो०—सचिव बैद गुरु तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तनु तीनि कर होइ बेगहिं नास॥

२. जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति शुभ गति सुख नाना॥
सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं॥

३. दो०—प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेडुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि॥

—रामचरितमानस

विदुरजी कहते हैं—"जो अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीति-धर्म है। कपट का आचरण करने वाले के साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करने वालों के साथ साधु-भाव से ही बर्ताव करना चाहिये।"

मायाविन इमां मायया जहि भारत ।
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर ॥

(शल्य० ३१।६-७)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—'मायावी दुर्योधन की इस माया को आप माया द्वारा ही नष्ट कर डालिये। युधिष्ठिर! मायावी का बध माया से ही करना चाहिए, यही सच्ची नीति है।'

२. भय के आने से पूर्व भयभीत की तरह रहे, किन्तु आजाने पर निर्भयतापूर्वक सामना करे–

भीतववत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्टवा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥

(आदि पर्व १३९।८२)

कणिक ऋषि कहते हैं–"जबतक अपने ऊपर भय न आया हो, तब तक डरे हुए की भाँति उसे टालने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जब भय को सामने आया देखे, तब निडर होकर शत्रु पर प्रहार करना चाहिये।"

३. भय-रहित स्थान में रहना उत्तम है–

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं व भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्र सुखं यत्र निर्वृत्तिः ॥

(शान्ति पर्व १११।३२)

"एक जगह बिना किसी भय के केवल जल मिलता है और दूसरी जगह अन्त में भय देने वाला स्वादिष्ट अन्न प्राप्त होता है—इन दोनों को यदि विचार करके देखता हूँ तो मुझे वहाँ ही सुख जान पड़ता है, जहाँ कोई भय नहीं है।"

४. समय के अनुसार शत्रु से मेल करना—

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ।

(शान्ति पर्व १३८।१९३–१९४)

'जब अपने और शत्रु पर एक सी विपत्ति आई हो, तब निर्बल को सबल शत्रु के साथ मेल कर के बड़ी सावधानी और युक्ति से अपना काम निकालना चाहिये और जब काम हो जाय तब फिर उस शत्रु पर विश्वास नहीं करना चाहिये।'

५. काम पूरा होने से पहले कोई जानने न पावे—

कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ।

(सभा पर्व ५।३३½)

नारदजी युधिष्ठिरजी से पूछते हैं—"राजन् ! वीर-शिरोमणे ! क्या तुम्हारे कार्यों को सिद्ध हो जाने पर या सिद्धि के निकट पहुँच जाने पर ही लोग जान पाते हैं ? सिद्ध होने से पहिले ही तुम्हारे किन्हीं कार्यों को लोग जान तो नहीं लेते ?"

६. शत्रु की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये—

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ।

(शान्ति पर्व ५८।१७)

'बलवान् शत्रु कभी दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना न करे, अर्थात् उसे छोटा समझ कर उसकी ओर से लापरवाही न दिखावे; क्योंकि आग थोड़ी सी भी हो तो भी जला डालती है और विष कम मात्रा में भी हो तो भी मार डालता है।

७. गुणवान् व्यक्ति का साथ कभी न छोड़े—

नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत् ।।

(शान्ति पर्व ८३।१२)

"एक ओर एक व्यक्ति हो और दूसरी ओर एक समूह हो, तो समूह को छोड़कर एक व्यक्ति को ग्रहण करने की इच्छा न करे। परन्तु जो एक मनुष्य बहुत मनुष्यों की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ हो और इन दोनों में से एक को ही ग्रहण करना पड़े तो ऐसी परिस्थिति में कल्याण चाहने वाले पुरुष को उस एक के लिए समूह को त्याग देनी चाहिये।"

८. सेवकों के भोजन और वेतन में विलम्ब न करे—

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः।
भर्तुः कुप्यन्ति यद् भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ।।

(सभापर्व ५।५०)

'भोजन और वेतन में अधिक बिलम्ब होने पर भृत्यगण अपने स्वामी पर कुपित हो जाते हैं और उनका वह कोप महान् अनर्थ का कारण होता है।'

९. अधिक के हित का प्रश्न होने पर, कम के हित को छोड़ देना चाहिये—

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

उद्यो० ३७।१७)

विदुरजी कहते हैं—"वंश के हित के लिए एक पुरुष को, ग्राम के हित के लिए [सम्पूर्ण] कुल को और जनपद (देश) के हित के लिए एक ग्राम को और आत्मा के लिए पृथ्वी का त्याग करदे❀

१०. उपहास लड़ाई का मूल कारण है ×

❀ धृतराष्ट्र को विदुरजी ने उक्त उपदेश करते हुए कहा था कि तुम एक दुर्योधन का त्याग करदो, अन्यथा सम्पूर्ण कुटुम्ब का नाश हो जायगा । मगर उसने मोहवश इस पर ध्यान नहीं दिया । इसी का यह फल था कि महाभारत जैसा युद्ध हुआ जो सर्वनाश का कारण बना ।

× एक दिन की बात है कि महाराज युधिष्ठिर के सभाभवन में राजा दुर्योधन घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थल पर जा पहुंचा और वहाँ जल की आशंका से उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया और वह स्थल में ही गिर पड़ा । फिर स्फटिक-मणि के समान स्वच्छ जल से भरी और स्फटिक-मणि के कमलों से ही सुशोभित बावली को स्थल समझ कर वह वस्त्र-सहित जल में गिर पड़ा ।

उसकी यह दुर्दशा देखकर महाबली भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय जोर-जोर से हँसने लगे । दुर्योधन स्वभाव से ही क्रोधी एवं ईर्ष्यालु था, अतः वह उनका उपहास न सह सका ।

अन्त में यह उपहास ही कौरव-पाण्डवों के ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र के विनाशकारी महाभारत के युद्ध के रूप में परिणित हुआ । ठीक ही कहा है—**'रोग का घर खांसी और राड़ का घर हाँसी'** ।

११. दूसरों के नाश का प्रयत्न करने वाला स्वयं अपने नाश का कारण बन जाता है ※

६८. राजनीति और राजधर्म

१. राजा या राज्याधिकारी का कर्त्तव्य— ×

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पाप चारिणम् ॥

(आदि पर्व २१२।९)

जो राजा प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप में वसूल करता है, किन्तु प्रजा की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता, उसे सम्पूर्ण लोकों में पूर्ण पापाचारी कहा गया है।'

※ दुर्योधन की आज्ञा से उसके मंत्री पुरोचन ने लाक्षागृह के द्वारा पाण्डवों को भस्म करने की चेष्टा की, किन्तु वह स्वयं अपने ही पापकर्मों से भस्मीभूत होगया। पूरी कथा 'महाभारत सुधासागर' में पढ़िये।

× १. मुखिया मुख सो चाहिए, खानपान को एक।
पाले पोसे सकल अंग, तुलसि सहित विवेक ॥

२. जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

३. मुनि तापस जिनते दुख लेहीं। ते नरेश बिन पावक दहहीं॥

४. सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्राण समाना॥

—रामचरितमानस

यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ।।
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत् ।।

(शान्ति पर्व ५६।४५–४६)

भीष्मजी कहते हैं—"जैसे गर्भवती स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले प्रिय भोजन आदि का परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी चाहिये कि निस्सन्देह वैसा ही बर्ताव करे। कुरुश्रेष्ठ ! राजा अपने को प्रिय लगने वाले विषय का परित्याग करके जिसमें सब लोगों का हित हो, वही कार्य करे।

---

५. भगवान् श्रीराम समस्त पुरजनों को एकत्रित करके अपना सर्व प्रथम संदेश देते हैं:—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी ।।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ।।
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई ।।
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई ।।

—रामचरितमानस

६. पाण्डवों का प्रजापालन—

एक दिन कुछ चोरों ने किसी ब्राह्मण की गौएँ चुराली। इस पर वह ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा—पाण्डवो ! कुछ नीच पापात्मा चोर जबरदस्ती मेरा गोधन चुराकर लिये जा रहे हैं। आप शीघ्र ही रक्षा कीजिए। जो राजा प्रजा की आमदनी का छटा हिस्सा लेकर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह राज्य भर के लोगों के पाप का भागी होता है।

(आगे भी देखिये)

यथापुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥

(शान्ति पर्व ६९।२७)

"निःसन्देह राजा को चाहिये कि वह अपनी प्रजा को पुत्रों और पौत्रों की भाँति स्नेह दृष्टि से देखे; परन्तु जब न्याय करने का अवसर प्राप्त हो, तब उसे स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिये।

कृपणानाथ वृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥

(शान्ति पर्व ८६।२४)

"दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियों के योगक्षेम एवं जीविका का सदा ही प्रबन्ध करे।"

अर्जुन ने रोते हुए ब्राह्मण को यह कहकर धीरज बँधाया कि 'डरो मत, डरने की कोई बात नहीं है।' पर जिस घर में अस्त्र-शस्त्र थे उसमें उस समय द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर विद्यमान थे। एक ओर ब्राह्मण के गोधन की रक्षा करके राज्य-धर्म का पालन करना तथा दूसरी ओर युधिष्ठिर की अप्रतिष्ठा और आपस की प्रतिज्ञा के नियमानुसार बारह वर्ष के बनवास के कष्टों का सहन! अन्त में उन्होंने धर्म-पालन को ही सबसे बढ़कर समझकर अपने मन में विचार किया—"**चाहे महाराज युधिष्ठिर के तिरस्कार से मुझे नियम-भंग का दोष प्राप्त हो जाय तथापि शरीर को नष्ट करके भी गौ- ण-रक्षा-रूप धर्म का पालन ही श्रेष्ठ है।**"

ऐसा निश्चय करके अर्जुन ने महाराज युधिष्ठिर से पूछकर घर के अन्दर प्रवेश किया और धनुष ले शीघ्रता-पूर्वक ब्राह्मण के साथ चोरों का पीछा किया। थोड़े से समय में ही उन्होंने चोरों को जीतकर सारा गोधन प्राप्त कर ब्राह्मण को सम्भला दिया और अपने नगर में

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ।।

(अनुशा० ६१।२९)

राजा शिबि का कथन है कि—"जिसके राज्य में ब्राह्मण या कोई और मनुष्य क्षुधा से पीड़ित हो रहा हो, उस राजा के जीवन को धिक्कार है ।"

अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत् पृथिवीपतिः ।
पालयेद् वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं लभेत् ।।

(आश्व० ७।२३)

लौट आये । सब गुरुजनों को प्रणाम करके महाराज युधिष्ठिर के नियय-भङ्ग के प्रायश्चित के रूप में बारह वर्षों तक वन में जाकर रहने की आज्ञा मांगने लगे । तब युधिष्ठिरजी ने कहा—

"वीरवर ! तुमने घर में घुसकर तो मेरा प्रिय कार्य—प्रजा-रक्षा का किया है, अतः मैं तुम्हें ऐसा न करने की आज्ञा देता हूँ । दूसरे, यदि बड़ा भाई घर में स्त्री के साथ बैठा हो तो छोटे भाई का वहाँ जाना दोष नहीं; परन्तु छोटा भाई घर में हो तो बड़े भाई का वहाँ जाना, उसके धर्म का नाश करने वाला दोष-रूप है । अतः महा-बाहो ! मेरी बात मानो, वनवास का विचार छोड़ दो । न तो तुम्हारे धर्म का लोप ही हुआ है और न तुम्हारे द्वारा मेरा तिरस्कार ही किया गया है ।'

अर्जुन ने नम्रता पूर्वक कहा—"प्रभो ! मैंने आपके ही मुख से सुना है कि धर्माचरण में कभी वहाने बाजी नहीं करनी चाहिए । अतः मैं सत्य की शपथ खाकर और शस्त्र छू कर कहता हूँ कि सत्य से विचलित नहीं होऊँगा ।"

यह कहकर वीर-श्रेष्ठ अर्जुन ने अपने बड़े भाई की आज्ञा लेकर बारह वर्ष तक वनवास हेतु प्रस्थान किया ।

धृतराष्ट्र कहते हैं—"जो राजा एक हजार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करता है अथवा दूसरा जो नरेश धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उन दोनों को समान फल प्राप्त होता है।"

२. राजा के गुण—

एक या द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव॥

(उद्यो० ३३।४४)

विदुरजी कहते हैं—"एक (बुद्धि) से दो (कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दाम, दण्ड, भेद) से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन) को वश में कीजिये। पाँच (इन्द्रियों) को जीत कर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय) गुणों को जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्ड की कठोरता और अन्याय से धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये।"

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षितुः।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा॥

(शान्ति पर्व १२०।३०)

भीष्मजी कहते हैं—'जिसका हर्ष और क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, जो स्वयम् ही सारे कर्मों की देखभाल करता है तथा आत्मविश्वास ही जिसका खजाना है, उस राजा के लिये यह वसुन्धरा (पृथ्वी) ही धन देने वाली बन जाती है।'

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः॥

(शान्तिपर्व ५९।१०४)

महर्षिगण वेन के पुत्र राजा पृथु से कहते हैं—"प्रिय

ग्रौर ग्रप्रिय का विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ ग्रौर मान को दूर हटाकर समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रक्खो।"

ग्रात्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
ग्रजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून्।।

(शान्ति पर्व ६९।४)

भीष्मजी कहते हैं—"राजा को सबसे पहले सदा ग्रपने मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। उसके बाद शत्रुग्रों को जीतने की चेष्टा करनी चाहिये। जिस राजा ने ग्रपने मन को नहीं जीता, वह शत्रु पर कैसे विजय पा सकता है ?"

ग्रात्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान्।।

(शान्ति पर्व २६७।२९)

सत्यवान कहता है—'जो राजा पाप की प्रवृत्ति को रोकना चाहता हो, उसे पहले ग्रपने मन को ही वश में करना चाहिये। फिर ग्रपने सगे बन्धु-बान्धव भी ग्रपराध करें, तो उनको भी भारी से भारी दण्ड देना चाहिये।'

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम्।
ग्रशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते।।

(शान्ति पर्व १२।२९)

नकुल कहते हैं—'राजा के प्रमाद-दोष से लुटेरे (प्रजा को लूटने वाले रिश्वतखोर ग्रन्यायी कुनबा-परस्त ग्रधिकारी भी इसी वर्ग में ग्राते हैं) प्रबल होकर प्रजा को लूटने लगते हैं, उस ग्रवस्था में यदि राजा ने प्रजा को शरण नहीं दी तो उसे मूर्तिमान् कलियुग ही कहा जाता है।'

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः ।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हसि ।।

(शान्तिपर्व ५७।३९)

भीष्मजी कहते हैं—'जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किये हुए करने योग्य कार्य और किये हुए कर्म शत्रुओं द्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य करने का अधिकारी है।'

कश्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजनम् ।।

(सभा पर्व ५।१२०)

नारदजी युधिष्ठिरजी से कहते हैं—"महाराज ! क्या तुम्हें किसी के किये हुए उपकार का पता चलता है ? क्या तुम उस उपकारी की प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषों से भरी हुई सभा के बीच उस उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो ?"

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषां तु न विश्वसेत् ।।

(शान्ति पर्व १३८।१९४½)

भीष्मजी कहते हैं—"जो विश्वासपात्र न हो, उस पर विश्वास न करे तथा जो विश्वास-पात्र हो, उस पर भी अधिक विश्वास न करे। अपने प्रति सदा दूसरों का विश्वास उत्पन्न करे; किन्तु स्वयं दूसरों का विश्वास न करे।

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भय संहितम् ।
सुरक्षितव्यं तत् कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ।।

(शान्तिपर्व १३८।१०८)

"जो किसी डरे हुए प्राणी द्वारा मित्र बनाया गया हो तथा जो स्वयं भी भयभीत होकर ही उसका मित्र बना हो—

इन दोनों प्रकार के मित्रों की ही रक्षा होनी चाहिये और जैसे बाजीगर सर्प के मुख से हाथ बचाकर ही उसे खेलता है, उसी प्रकार अपनी रक्षा करते हुए ही उन्हें एक दूसरे का कार्य करना चाहिये।

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम् ॥

(शान्ति पर्व ५६।१८)

भीष्मजी कहते हैं—"राजेन्द्र ! ऋषियों के लिए भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओं के लिए सत्य से बढ़कर दूसरा ऐसा कोई साधन नहीं है, जो प्रजा-वर्ग में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके।

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ॥

(शान्ति पर्व १३१।११)

"यदि सेना स्वामी के प्रति अनुराग रखने वाली, प्रिय और हृष्ट-पुष्ट हो, तो उस थोड़ी सी सेना के द्वारा भी राजा पृथ्वी पर विजय पा सकता है। (अतः राजा को चाहिये कि समय पर उचित वेतन पुरस्कार आदि के द्वारा सेना को पूर्ण सन्तुष्ट रक्खे)।

न श्वा स्वं स्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभिसत्कृतः।
आरोप्यः श्वा स्वकात्स्थानादुत्क्रम्यान्यत् प्रमाद्यति ॥

(शान्ति पर्व ११९।२)

"कुत्ता अपने स्थान को छोड़कर ऊँचे चढ़ जाय, तो न वह विश्वास के योग्य रह जाता है और न कभी उसका सत्कार ही होता है। कुत्ते को उसकी जगह से उठाकर ऊँचे कदापि न बैठावे (अर्थात् किसी हीन कुल के व्यक्ति को उसकी योग्यता

और मर्यादा से उच्च स्थान प्रदान न करे); क्योंकि वह दूसरे किसी ऊँचे स्थान पर चढ़कर प्रमाद करने लगता है।

धनं भोगं पुत्रदारं समृद्धिं सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम्।
लुब्धे दोषाः सम्भवन्तीह सर्वे तस्माद् राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम्॥

(शान्तिपर्व १२०।४८)

"लोभी मनुष्य दूसरों के धन, भोग-सामग्री, स्त्रीपुत्र और स्मृद्धि सबको प्राप्त करना चाहता है। लोभी में सब प्रकार के दोष प्रकट होते हैं; अतः राजा उसे अपने यहां किसी पद पर स्थान न दे।

नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कुर्तुमर्हति।
अकुलीननराकीर्णो न राजा सुखमेधते॥

(शान्ति पर्व ११८।४)

"राजा परीक्षा लिए बिना किसी को भी अपना मंत्री न बनावे; क्योंकि नीच कुल के मनुष्य का साथ पाकर राजा को न तो सुख मिलता है और न उसको उन्नति ही होती है।

तस्मात् प्रत्यक्ष द्रष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम्।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात् परितप्यते॥

(शान्ति पर्व १११।६७)

"इसलिये प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु की भी परीक्षा करनी उचित है। जो परीक्षा लेकर भले-बुरे की जांच करके किसी कार्य के लिए आज्ञा देता है, उसे पीछे पछताना नहीं पड़ता।'

नैव द्वौ न त्रयः कार्या न मृष्येरन् परस्परम्।
एकार्थे ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा॥

(शान्ति पर्व ८०।२५)

"एक काम पर एक ही व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिये, दो या तीन को नहीं, क्योंकि वे आपस में एक दूसरे को सहन

नहीं कर पाते, एक काम पर नियुक्त हुए अनेक व्यक्तियों में प्रायः सदा मतभेद हो ही जाता है।

न विश्वसेच्च नृपस्तिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत्।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्धयावलोकयेत्॥

(शान्ति पर्व५७।१६)

"राजा किसी पर भी विश्वास न करे। विश्वसनीय व्यक्ति का भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजनीति के छः गुण होते हैं—सन्धि, विग्रह, यान (चढ़ाई), आसन (आत्म रक्षा करना), द्वैधीभाव (दो प्रकार के भाव—ऊपर से कुछ और भीतर दूसरा) समाश्रय (मित्र राजाओं का सहारा)। इन सबके गुण–दोषों का अपनी बुद्धि द्वारा सदा निरीक्षण करे।

परिहासस्य भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु॥

(शान्ति पर्व ५६।४८)

"वक्ताओं में श्रेष्ठ राजसिंह! तुम्हें सेवकों के साथ अधिक हँसी मजाक नहीं करना चाहिये; इसमें जो दोष हैं, वह मुझसे सुनो।"

३. राजा के दोष—

षडनर्था महाराज कश्चित् ते पृष्ठतः कृताः।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता॥

(सभापर्व ५।१२६)

नारदजी युधिष्ठिरजी से कहते हैं—"महाराज! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषों को पीछे कर दिया (त्याग दिया) है।"

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् ।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते ।।

(शान्ति पर्व ५७।२७)

भीष्मजी कहते हैं—"जो राजा सब पर सन्देह करता और सबका सर्वस्व हर लेता है, वह लोभी और कुटिल राजा एक दिन अपने ही लोगों के हाथ से मारा जाता है।'

असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा ।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति ॥

(शान्ति पर्व ९२।९)

वामदेवजी कहते हैं—"जो दुष्ट एवं पापिष्ठ मन्त्रियों की सहायता से धर्म को हानि पहुँचाता है, वह सब लोगों का वध्य हो जाता है और अपने परिवार के साथ ही शीघ्र संकट में पड़ जाता है।"

राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः ।
अनयेनोपवर्तन्ते तद् राज्ञः किल्बिषं महत् ।।

(शांति पर्व ९१।२४)

उतथ्यजी कहते हैं—"जब राजा के बहुत से कर्मचारी देश से अन्यायपूर्वक वर्ताव करने लगते हैं, तब वह महान् पाप राजा को ही लगता है।"

४. दण्ड-नीति का उचित उपयोग—

सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना ।
प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः ।।

(शान्तिपर्व १२१।११)

भीष्मजी मनुजी की उक्ति बताते हैं—"जो राजा प्रिय और अप्रिय के प्रति समान भाव रखकर किसी के प्रति पक्षपात

न करके दण्ड का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए प्रजा की भली-भाँति रक्षा करता है, उसका वह कार्य केवल धर्म है।"

दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः ।
शश्वद् रूपं महद् बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ॥

(शान्ति पर्व १२१।२३)

भीष्मजी कहते हैं—"दण्ड सर्वत्र व्यापक होने के कारण भगवान् विष्णु है और नरों (मनुष्यों) का अयन (आश्रय) होने से नारायण कहलाता है। वह प्रभावशाली होने से प्रभु और सदा महत् रूप धारण करता है, इसलिये महान् पुरुष कहलाता है।"

विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया ।
दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया ॥

(शान्ति पर्व १२२।४०)

वसुहोम कहते हैं—"अतः धर्म के अनुसार न्याय-अन्याय का विचार करके ही दण्ड का विधान करना चाहिये, मनमानी नहीं करनी चाहिये। दुष्टों का दमन करना ही दण्ड का मुख्य उद्देश्य है। स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर खजाना भरना नहीं। दण्ड के तौर पर स्वर्ण (धन) लेना तो वाह्याङ्ग—गौण-कर्म है।"

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत ॥

(शान्ति पर्व १४।१४)

द्रौपदी कहती है—"जो दण्ड देने की शक्ति नहीं रखता, उस क्षत्रिय की शोभा नहीं होती, दण्ड न देने वाला राजा इस पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। भारत ! दण्डहीन राजा की प्रजाओं को कभी सुख नहीं मिलता है।"

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्माद्‌भयमाश्रय ।।

(शान्ति पर्व ५६।२१)

भीष्मजी कहते हैं—"जो राजा सदा सब प्रकार से कोमलतापूर्ण बर्ताव करता है, उसकी आज्ञा का लोग उल्लंघन कर जाते हैं और केवल कठोर बर्ताव करने से भी सब लोग उद्विग्न हो जाते हैं; **अतः तुम आवश्यतानुसार कठोरता और कोमलता दोनों का अवलम्बन करो ।**

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा ।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं राज्यमुपासितुम् ।।

(शान्ति पर्व ७५।१८)

"राजन् ! मैं जानता हूं कि तुम्हारी बुद्धि में दया और कोमलारूपी गुण ही भरा है; परन्तु केवल दया एवं कोमलता से ही राज्य का शासन नहीं किया जा सकता ।

यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः ।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ।।

(शान्तिपर्वं १४२।२७)

"अबध्य मनुष्य का बध करने में जो दोष माना गया है, वही बध्य का वध न करने में भी है । वह दोष ही अकर्त्तव्य की वह मर्यादा (सीमा) है, जिसका क्षत्रिय राजा को परित्याग करना चाहिये ।

दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचिम् ।
स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति ।।

(शान्ति पर्व १११।७०)

"जो दूसरों के मिथ्या कलंक लगाने पर किसी निर्दोष को भी दण्ड देता है, वह दुष्ट मन्त्रियों वाला राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।"

५. कर एवं आय-व्यय—

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥

(उद्योग पर्व ३४।१८)

विदुरजी कहते हैं—"जैसे माली बगीचे में एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजा की रक्षापूर्वक उनसे कर ले। कोयला बनाने वाले की तरह जड़ से नहीं काटे।"

मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः ।
तायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तं शक्ष्यसि पालयन् ॥

(शान्ति पर्व ७१।२०)

भीष्मजी कहते हैं—"युधिष्ठिर ! तुम माली के समान बनो, कोयला बनाने वाले के समान न बनो। ऐसा करके प्रजा-पालन में तत्पर रहकर तुम दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग कर सकोगे।

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः ॥

(शान्ति पर्व ७१।१५)

"जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र-विरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है।

अग्निः स्तोको वर्धतेऽप्याज्यसिक्तो बीजं चैकं रोहसहस्रमेति ।
आयव्ययौ विपुलौ संनिशाम्य तस्मादल्पं नावमन्येत वित्तम् ॥

(शान्ति पर्व १२०।३८)

"थोड़ी सी भी आग यदि घी से सिंच जाय, तो बढ़कर बहुत बड़ी हो जाती है। एक ही छोटे से बीज को बो देने पर

उससे सहस्रों बीज पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार महान् आय-व्यय के विषय में विचार करके थोड़े से भी धन का अनादर न करे।"

६. शत्रुओं के प्रति व्यवहार— *

हीयमानेन वै सन्धिः पर्येष्टव्यः समेन वा।
विग्रहो वर्धमानेन मतिरेषा बृहस्पतेः ॥
(शल्य० ४।४३)

---

* बलवान शत्रु को युक्ति से जीतना चाहिये
(जरासंध–वध)

अर्जुन ने कहा—'राजन् ! मनोयोग और प्रारब्ध के अनुकूल पुरुषार्थ ही विजय का हेतु है। कोई बल से संयुक्त होने पर भी प्रमाद करे—कर्त्तव्य में मन न लगावे, तो वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। प्रमाद-रूप छिद्र के कारण बलवान शत्रु भी अपने शत्रुओं द्वारा मारा जा सकता है। यदि हम राजसूय यज्ञ की सिद्धि के लिये पापी जरासंध का विनाश तथा कैद में पड़े हुए राजाओं की रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर जी से कहा—'अर्जुन का कहना यथार्थ है। हम लोग यह नहीं जानते कि मौत कब आवेगी ? रात में आयेगी या दिन में ? हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करने के कारण कोई अमर हो गया हो। यदि दोनों पक्ष वालों का बल बराबर है, तो जो चतुराई से काम लेता है, वही जीतता है। हम जरासंध से रीति के अनुसार युद्ध करने की सलाह नहीं देते। यदि हम अपने छिद्र छिपाकर उसके छिद्रों का सहारा ले सकें तो हमारी निश्चय ही जीत होगी, और यदि हम हार भी जायें तो भी हमें स्वर्ग की प्राप्ति तो होगी ही, क्योंकि हमारा उद्देश्य अच्छा है।

कृपाचार्यजी कहते हैं—"बृहस्पति की यह नीति है कि—'जब अपना बल कम या बराबर जान पड़े तो शत्रु के साथ संधि कर लेनी चाहिये। लड़ाई तो उसी वक्त छेड़नी चाहिये, जब अपनी शक्ति शत्रु से बढ़ी-चढ़ी हो'।"

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च॥
(शान्ति पर्व ५८।१७)

बलवान् पुरुष कभी दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना न करे, अर्थात् उसे छोटा समझकर उसकी ओर से लापरवाही न दिखाये; क्योंकि आग थोड़ी सी हो, तो भी जला डालती है और विष कम मात्रा में भी हो तो भी मार डालता है[1]।

'देखिये राजन्! हम नीति जानते हैं। भीम बलवान है और अर्जुन शस्त्र-विद्या में निपुण है। हम लोग छिपे-छिपे जरासंध के घर में घुसकर उसे द्वन्द्व-युद्ध करने को कहें, तो वह निश्चय ही बल के नशे में चूर होने के कारण भीमसेन के साथ मल्ल-युद्ध करने को राजी हो जायगा। उस समय हम भीम की रक्षा करेंगे और अपने उपदेश के द्वारा उन्हें सहायता पहुँचाते रहेंगे। इस प्रकार महाबली भीमसेन जरासंध को अवश्य जीतेंगे।'

श्रीकृष्णजी की नीति के अनुसार जरासंध मारा गया तथा जरासंध की कैद में पड़े हुए सब राजाओं को छोड़ दिया गया। जरासंध इन्हें रुद्रदेवता की बलि चढ़ाना चाहते थे। इस प्रकार पापी जरासंध का वध कराकर भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म-रक्षा का कार्य किया।

१. दो०—रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रबि ससिहि सिर अवसेषित राहु॥
—रामचरितमानस

मन्यसे कर्षयित्वा तु क्षमा साध्वीति शम्बरः।
असंतप्तं तु यद् दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ।।
(शान्ति पर्व १०२।३१)

शम्बासुर का मत है कि—'पहिले शत्रु को पीड़ा द्वारा अत्यन्त दुर्बल करके फिर उसके प्रति क्षमा का प्रयोग करना ठीक है; क्योंकि यदि टेढ़ी लकड़ी को बिना गर्म किए ही सीधी की जाय तो वह फिर ज्यों-की-त्यों हो जाती है।'

आरम्भांश्चास्य महतो दुश्चरांश्च प्रयोजय ।
नदीवच्च विरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ।।
(शान्ति पर्व १०५।१६)

कालकवृक्षीय मुनि कहते हैं—'शत्रु को इतने बड़े-बड़े कार्य करने की प्रेरणा दो, जिनका पूरा होना अत्यन्त कठिन हो और बलवान् राजाओं के साथ शत्रु का ऐसा विरोध करा दो, जो किसी विशाल नदी के समान अत्यन्त दुष्तर हो।'

बालोऽप्यबालः स्थविरोरिपुर्यः सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात्।
कालेनान्यस्तस्य मूलं हरेत कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ।।
(शान्ति पर्व १२०।३९)

भीष्मजी कहते हैं—"शत्रु बालक, जवान अथवा बूढा ही क्यों न हो, सदा सावधान न रहने वाले मनुष्य का नाश कर डालता है। दूसरा कोई धन-सम्पन्न शत्रु अनुकूल समय का सहयोग पाकर राजा की जड़ उखाड़ सकता है। इसलिए जो समय को जानता है, वही समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है।

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित् प्रशस्यते ।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ।।
(शान्ति पर्व १३९।१११)

"राजन् ! बलवान् के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता। जिसने बलवान् के साथ झगड़ा मोल ले लिया, उसके लिए कहां राज्य है और कहां सुख ?"

बहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
प्राप्तकालं विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि॥

(शान्ति पर्व १४०।१८)

कणिक ऋषि कहते हैं—"जब तक समय बदल कर अपने अनुकूल न होजाय, तब तक शत्रु को यदि कंधे पर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी ढोये, परन्तु जब अनुकूल समय आजाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट करदे, जैसे घड़े को पत्थर पर पटककर फोड़ दिया जाता है।

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत्॥

(शान्ति पर्व १४०।२५)

"राजा बुगले के समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्य विषय का चिन्तन करे। सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे। भेड़िये की भांति सहसा आक्रमण करके शत्रु का धन लूट ले तथा बाण की भांति शत्रुओं पर टूट पड़े।

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥

(शान्ति पर्व १४०।३०)

"जो राजा दण्ड से नत मस्तक हुये शत्रु को पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्यु को आमन्त्रित करता है। ठीक उसी तरह, जैसे खच्चरी मौत के लिए ही गर्भ धारण करती है।

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुद्धयते ॥

(शान्ति पर्व १४०।३७)

"जो शत्रु के साथ सन्धि करके विश्वासपूर्वक सुख से सोता है, वह उसी मनुष्य के समान है, जो वृक्ष की शाखा पर गाढ़ी नींद में सो गया हो। ऐसा पुरुष नीचे गिरने (शत्रु द्वारा सङ्कट में पड़ने) पर ही सजग या सचेत होता है।

अभ्युत्थानभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित् ।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥

(शान्ति पर्व १४०।४९)

"शत्रु के आने पर उठकर उसका स्वागत करे, उसे प्रणाम करे और कोई अभूतपूर्व उपहार दे। इन सब बर्तावों के द्वारा पहले उसे वश में करे। इसके बाद ठीक वैसे ही जैसे तीखी चोंच वाला पक्षी वृक्ष के प्रत्येक फूल और फल पर चोंच मारता है, उसी प्रकार उसके साधन और साध्य पर आघात करे।"

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यति शत्रवः ।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षिता ॥

(उद्यो० ८२।१३)

"श्रीकृष्ण ! अपने जीवन की रक्षा करने वाले पुरुष को चाहिये कि जो शत्रु साम और दान से शान्त न हों, उन पर दण्ड का प्रयोग करे।"

७. शास्त्रबल और शस्त्रबल का समन्वय–

ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयम्भुवा ।
पृथग्बलविधानं तन्न लोकं परिपालयेत् ॥

(शान्ति पर्व ७४।१३)

मुचुकुन्द राजा कहते हैं—"राजराज ! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की उत्पत्ति का स्थान एक ही है। दोनों को स्वयम् ब्रह्माजी ने ही पैदा किया है। **यदि उनका बल और प्रयत्न (अर्थात् ब्रह्मबल यानी शास्त्र-बल या आध्यात्मिक-बल और क्षत्रीय-बल अर्थात् शस्त्र-बल और उनका उपयोग) अलग-अलग हो जायँ तो वे संसार की रक्षा नहीं कर सकते।**"

८. राजा ही सत्ययुग आदि का सृष्टा है- *

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥
राजाकृतयुग स्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥

(उद्यो १३२।१६-१७)

कुन्तीदेवी कहती हैं—"राजा का कारण काल है या काल का कारण राजा होता है। ऐसा सन्देह तुम्हारे मन में नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है। राजा ही सत्य-युग, त्रेता और द्वापर का स्रष्टा है। चौथे युग कलि को प्रकट होने में भी वही कारण है।

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते॥

(उद्योगपर्व १३२।१५)

"यदि राजा दण्डनीति के प्रयोग में पूर्णतः न्याय से काम लेता है तो जगत् में 'सत्ययुग' नामक उत्तम काल आजाता है।"

---

* १—अर्क जवास पात बिन भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥
२—बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥
—रामचरितमानस

६६—वर्ण--धर्म (चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था)

१. वर्ण-धर्म के प्रवर्तक भगवान् हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥
(गीता ४।१३)

श्रीभगवान् कहते हैं—"गुण और कर्म के विभागानुसार मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं। उनका कर्त्ता होने पर भी मुझे तू अविनाशी और अकर्ता समझ।

२. वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक गुण कर्मों के आधार पर है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
(गीता १८।४१)

"हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं।"

जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः।
एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥
(शान्ति० ७६।४)

भीष्मजी कहते हैं—"राजन् जो अपने जातीय कर्म से हीन हो कुत्सित कर्मों में लगकर ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो चुके हैं, ऐसे लोग ब्राह्मणों में शुद्र के तुल्य होते हैं।"

शुद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
(शान्ति पर्व १८९।८)

भृगुजी कहते हैं—'उपर्युक्त सत्यादि सात गुण (सत्य, दान, द्रोह न करने के भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप) यदि शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है।'

३. स्वाभाविक कर्मों के द्वारा परम सिद्धि की प्राप्ति—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता २८।४६–४८)

श्रीभगवान् कहते हैं—'जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता। अतएव हे कुन्ति-पुत्र! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धुएँ से अग्नि की भांति सभी कार्य किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं।'

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्म निरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः॥

(वन पर्व २०८।९)

मार्कण्डेयजी कहते हैं—"ब्रह्मन् ! अपने कर्म का परित्याग करने वाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्मों में तत्पर है, उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है।"

४—ब्राह्मण *

१. ब्राह्मण के गुण—

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ॥
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवाः ब्राह्मणं विदुः ।

(वनपर्व २०६।३५-३६)

पतिव्रता स्त्री कौशिक मुनि से कहती है—'जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुष का सम्पूर्ण जगत् के प्रति आत्मभाव है तथा सभी धर्मों पर जिसका समान अनुराग है, उसे देवता लोग ब्राह्म मानते हैं।'

विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥

(शान्ति पर्व ७६।२)

भीष्मजी कहते हैं—"राजन् ! जो ब्राह्मण उत्तम लक्षणों से सम्पन्न तथा सर्वत्र समान दृष्टि रखने वाले हैं, ऐसे ब्राह्मण ब्रह्माजी के समान कहे गये हैं।"

सत्यंदानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

(शान्ति पर्व १८९।४)

भृगुजी कहते हैं—"जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है।"

---

* सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लवलीना।
—रामचरितमानस

प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणां शाम्यतेऽनघ।
प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप ॥

(अनुशा० ३५।२३)

भीष्मजी कहते हैं—"निष्पाप नरेश ! दान लेने से ब्राह्मणों का तेज शान्त हो जाता है; इसलिये जो दान नहीं लेना चाहते, उन ब्राह्मणों से तुम्हें अपने कुल की रक्षा करनी चाहिये (अर्थात् उनका कभी कोई अपराध न बनने पावे)।"

अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद् वित्तनिचयो महान् ॥
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेत् सम्प्रमोहयेत् ।

(अनुशा० ६१।१९-२०)

'ब्राह्मणों के पास यदि बहुत धन इकट्ठा हो जाय तो यह उनके लिये अनर्थ का ही कारण होता है; क्योंकि लक्ष्मी का निरन्तर सहवास उन्हें दर्प और मोह में डाल देता है।'

प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम् ।
तद् धनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत् ॥

(अनुशा० ९३।४४)

जमदग्नि कहते हैं--"प्रतिग्रह (दान) न लेने से ब्राह्मण अपनी तपस्या को सुरक्षित रख सकता है। तपस्या ही ब्राह्मण का धन है। जो लौकिक धन के लिये लोभ करता है, उसका तप रूपी धन नष्ट हो जाता है।"

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥

(अनुशा० १४३।५०)

श्री महेश्वर कहते हैं—'ब्राह्मणत्व की प्राप्ति में न तो केवल योनि, न संस्कार, न शास्त्रज्ञान और न संतति ही कारण है। **ब्राह्मणत्व का प्रधान हेतु तो सदाचार ही है।**

ब्राह्मः स्वभावः सुश्रोणि समः सर्वत्र मे मतिः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः।।

(अनुशा० १४३।५२)

'सुश्रोणि ! ब्रह्म का स्वभाव सर्वत्र समान है। जिसके भीतर उस निर्गुण और निर्मल ब्रह्म का ज्ञान है, वही वास्तव में ब्राह्मण है, ऐसा मेरा विचार है।'

२–ब्राह्मण के कर्म—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।

(गीता १८।४२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वभाव-जन्य कर्म हैं।'

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत वै द्विजः।
सद्भ्य आगतविज्ञानः शिष्टः शास्त्रविचक्षणः।।

(शान्तिपर्व २३५।४)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—'ब्राह्मण किसी भी जीव को कष्ट न देकर—उसकी जीविका का हनन न करके—अपनी जीविका चलाने की इच्छा करे। सन्तों की सेवा में रहकर तत्वज्ञान प्राप्त करे, सत्पुरुष बने और शास्त्र की व्याख्या करने में कुशल हो।"

अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते।।
विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।

(अनुशा० ७५।१८ै)

भीष्मजी कहते हैं—"नरेन्द्र ! शिष्यों को पढाने वाला अध्यापक क्लेश सहन करने के कारण अक्षय फल का भागी

होता है। अग्नि में हवन करके ब्राह्मण ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।"

५—क्षत्रिय

क्षतत्राता क्षताज्जीवन् क्षन्ता स्त्रीष्वपि साधुषु।
क्षत्रियः क्षितिमाप्नोति क्षिप्रं धर्मं यशः श्रियः॥

(द्रोण पर्व १९६।४)

जो क्षति (संकट) से अपनी तथा दूसरों की रक्षा करता है, युद्ध में शत्रुओं को क्षति (हानि) पहुँचाना ही जिसकी जीविका है तथा जो स्त्रियों और साधु-पुरुषों पर क्षमा-भाव रखता है, वही क्षत्रिय है और उसे ही शीघ्र इस पृथ्वी के राज्य, धर्म, यश और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥

(गीता १८।४३)

भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं—'शौर्य (न्याय-युक्त युद्ध के लिये सदैव तत्पर रहना), तेज (वह शक्ति जिससे दूसरे लोग न्याय के प्रतिकूल व्यवहार करने में डरें), धैर्य (बड़े से बड़ा संकट—युद्धस्थल में भारी से भारी चोट लगने, पुत्र-पौत्रादि के मरजाने या सर्वस्व के नाश हो जाने पर भी अपने कर्तव्य-पालन से विमुख न होना), चतुरता, युद्ध में न भागना, दान (उदारता-पूर्वक सात्त्विक दान योग्य पात्रों को) देना और स्वामिभाव (शासन के द्वारा लोगों को अन्यायाचरण से रोककर सदाचार में प्रवृत्त करना, दुराचारियों को दण्ड देना, लोगों से अपनी न्याययुक्त आज्ञा का पालन करवाना तथा प्रजा का निस्वार्थ-भाव से पालन-पोषण करना)—ये सब-के-सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।'

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि ।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥

(अनुशापर्व ७५।२०)

भीष्मजी कहते हैं—'वेदाध्ययन, यज्ञ और दान कर्म में तत्पर रहने वाला तथा युद्ध में दूसरों की रक्षा करने वाला क्षत्रिय भी स्वर्गलोक में पूजित होता है ।

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥

(शान्ति पर्व ५५।१६)

'केशव ! जो क्षत्रिय लोभवश धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने वाले, पापाचारी गुरु-जनों का भी समराङ्गण में वध कर डालता है, वह अवश्य ही धर्म का ज्ञाता है ।'

६—वैश्य ※

कृषिगौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

(गीता० १८।४४)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य-व्यवहार—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।"

वैश्यस्यापिहि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम् ।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥
पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह ।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥

(शान्ति पर्व ६०।२१-२२)

※सोचिअ बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥
—रामचरितमानस

भीष्मजी कहते हैं—"अब वैश्य का जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। **दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धन का संग्रह—ये वैश्य के कर्म हैं।** वैश्य सदा उद्योगशील रह कर पुत्रों की रक्षा करने वाले पिता के समान सब प्रकार के पशुओं का पालन करे। इन कर्मों के सिवा वह और जो कुछ करेगा, वह उसके लिये विपरीत कर्म होगा।

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत्।

(अनुशासन पर्व ७५।२१)

"अपने-अपने कर्म में लगा हुआ वैश्य दान (सात्त्विक दान) देने से महत् पद को प्राप्त होता है।"

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्नि होत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥

(अनुशासन पर्व १४१।५४-५५)

श्रीमहेश्वर कहते हैं—"पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग—ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं।"

७—शूद्र*

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।

(गीता १८।४४)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।"

---

* सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी ॥

—रामचरितमानस

शुद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रुषा च द्विजातिषु।
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत् ॥
नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान् ॥

(अनुशासन पर्व १४१।५७-५९)

श्रीमहेश्वरजी कहते हैं—"शूद्र का परम धर्म है तीनों वर्णों की सेवा। जो शूद्र सत्यवादी, जितेन्द्रिय और घर पर आये हुए अतिथि की सेवा करने वाला है, वह महान् तप का संचय कर लेता है। उसका सेवारूप धर्म उसके लिए कठोर तप है। नित्य सदाचार का पालन और देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा करने वाले बुद्धिमान् शुद्र को धर्म का मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है।"

७०—आश्रम-धर्म

(अपने-अपने आश्रमाधर्मों के पालन से परम गति)

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥

(शान्तिपर्व २४२।१३)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"बेटा ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी अपने-अपने आश्रम के लिए विहित शास्त्रोक्त कर्मों का पालन करते हुए परमगति को प्राप्त होते हैं।"

चतुष्पदी हि निः श्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता ।
एतामारुह्य निः श्रेणींब्रह्म लोके महीयते ॥

(शान्ति पर्व २४२।१५)

"ये चारों आश्रम ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं और ब्रह्म तक पहुंचाने के लिये चार पैंडीवाली सीढ़ी के समान माने गये हैं। इसी सीढी पर चढ़कर मनुष्य ब्रह्मलोक में सम्मानित होता है।"

गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः ॥

(शान्ति पर्व२६८।१३)

कपिल मुनि कहते हैं—"संन्यासी परमपद को प्राप्त कर सकता है, वानप्रस्थ भी वहीं जा सकता है। गृहस्थ और ब्रह्म-चारी—ये दोनों भी उसी पद को प्राप्त कर सकते हैं।"

१—ब्रह्मचर्याश्रम

१. ब्रह्मचर्याश्रम का महत्व-

ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः ।
आत्मनश्च ततः श्रेयांस्यन्विच्छन् मनसाऽऽत्मनि ॥

(शान्तिपर्व २४२।६)

व्यासजी शुकदेवजी से कहते हैं—"परम ऋषियों ने ब्रह्म-चर्य के पालन से ही उत्तम लोकों पर विजय पायी हैं; अतः मन-ही-मन अपने कल्याण की इच्छा रखकर पहिले ब्रह्मचर्य का पालन करे।

आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः ।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः ॥

(शा० २४२।१६)

"द्विज के बालक को चाहिये कि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु अथवा गुरुपुत्र की सेवा में अपनी आयु के एक चौथाई भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष तक रहे । वहां रहते हुए किसी के दोष न देखे। ऐसा करने वाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थ के ज्ञान में कुशल होता है।"

२. विद्या, उसका महत्त्व और उसकी प्राप्ति–

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥
(शा० १७५।३५)

"संसार में विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ॥
(शा० १६५।३१)

"नीच वर्ण के पुरुष के पास भी उत्तम विद्या हो तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये, जैसे सोना अपवित्र स्थान में पड़ा हो तो भी उसे बिना हिचकिचाहट के उठा लेना चाहिये।'

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥
(उद्यो० ४०।६)

"सुख चाहने वाले को विद्या कहां से मिले ? विद्या चाहने वाले के लिए सुख नहीं है; सुख की चाह हो तो विद्या को छोड़े और विद्या चाहे तो सुख का त्याग करे।"

३. ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य—

कुर्यातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता ।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत् ॥
(शा० २४२।१९)

व्यासजी कहते हैं—"अपनी उन्नति चाहने वाले शिष्य को गुरु की सेवा-टहल का सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन करना चाहिये। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसी पर कोई कलंक न लगावे। गुरु के बुलाने पर झट उनकी सेवा में उपस्थित हो जाय।

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत् ।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत ना सुप्ते प्रस्वपेत च ॥
(शा० २४२।२१)

"आचार्य जब तक भोजन न करलें, तबतक स्वयं भी न खाय। वे जब तक जलपान न करलें, जबतक स्वयं भी न करे। उनके बैठने से पहिले स्वयं भी न बैठे और उनके सोने से पहिले स्वयं भी न सोये।

उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत् ।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीड़येत् ॥
(शा० २४२।२२)

"दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बायें हाथ से बायां चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे।"

नोदीक्षेत् परदारांश्च रहस्येकासनो भवेत् ।
इन्द्रियाणि सदा यच्छेत् स्वप्नेशुद्धमनाभवेत् ॥
(दा० अनुशासन पर्व १०४)

भीष्मजी कहते हैं—"वह परायी स्त्री की ओर न देखे और न एकान्त में उनके साथ एक आसन पर बैठे ही। इन्द्रियों को सदा अपने वश में रक्खे। स्वप्न में भी शुद्धमन वाला होकर रहे।

सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्तोऽपि वर्तितव्यं गुराविह।
गुरुनिन्दा दहत्यायुर्मनुष्याणां न संशयः॥

(अनुशासन पर्व १०४।८१)

"गुरु प्रतिकूल बर्ताव करते हों तो भी उनके प्रति अच्छा ही बर्ताव करना उचित है; क्योंकि गुरु-निन्दा मनुष्यों की आयु को दग्ध कर देती है, इसमें संशय नहीं है।"

४. गुरु का महत्त्व—

न बिना ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न बिना गुरु सम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः॥

(शान्ति पर्व ३२६।२२)

जनक शुकदेवजी से कहते हैं—'ब्रह्मन्! जैसे ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।'

शरीरमेतौसृजतः पितामाता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्यासाजरामरा॥

(अनुशासन पर्व १०५।१८३)

भीष्मजी कहते हैं—'भारत! पिता और माता केवल शरीर की सृष्टि करते हैं, किन्तु आचार्य के उपदेश से जो ज्ञानरूपी नवीन जीवन प्राप्त होता है, जो सत्य, अजर और अमर है।

२—गृहस्थाश्रम※

१. गृहस्थाश्रम का महत्व—

यथामातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः ।

(दाक्षिणात्य प्रति अनुशासन पर्व अध्याय १४१)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—'जैसे सभी जीव माता का सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम का आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करते हैं।

२. गृहस्थाश्रम में स्थित व्यक्ति के कर्त्तव्य—

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत् ।
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥

(शान्तिपर्व २४३।१)

व्यासजी कहते हैं—"बेटा ! गृहस्थ पुरुष अपनी आयु के दूसरे भाग तक गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए घर पर ही रहे। धर्मानुसार स्त्री से विवाह करके उसके साथ अग्निस्थापन करने के पश्चात् नित्य अग्निहोत्र आदि करे और उत्तम व्रत का पालन करता रहे।"

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत् दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥

(आदि पर्व ९१।३)

※ सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग ।

—रामचरितमानस

ययाति कहते हैं—"गृहस्थ पुरुष न्याय से प्राप्त किये हुए धन को पाकर उससे यज्ञ करे, दान दे और सदा अतिथियों को भोजन करावे। दूसरे की वस्तु उसके दिये विना ग्रहण न करे। यह गृहस्थ धर्म का प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है।"

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ॥
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।
यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥
एवंवृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात् ।

(शान्ति पर्व ३६।३४-३६)

व्यासजी कहते हैं—"गृहस्थ को चाहिये कि वह पहले देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों (अतिथियों), पितरों और घर के देवताओं का पूजन करके पीछे स्वयं भोजन करे। ❀ जैसे गृहत्यागी संन्यासी घर के प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घर में रहना चाहिये। जो इस प्रकार सदाचार का पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नी के साथ घर में निवास करता है, वह धर्म का पूरा फल प्राप्त कर लेता है।"

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥
ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥

(शान्ति पर्व ८१।२१-२२)

❀ देवताओं का पूजन यज्ञ-हवन द्वारा, सन्ध्या एवं वेद आदि शास्त्रों के नित्य स्वाध्याय से ऋषियों का, अतिथि सत्कार द्वारा मनुष्यों का और श्राद्ध-तर्पण द्वारा पितरों का पूजन होता है।

नारदजी कहते हैं—"श्रीकृष्ण ! अपनी शक्ति के अनुसार सदा अन्नदान करना, सहनशीलता, सरलता, कोमलता तथा यथायोग्य पूजन (आदर-सत्कार) करना—यही बिना लोहे का बना हुआ शस्त्र है (जिससे अपने विरोधियों को जीता जा सकता है) । जब सजातीय बन्धु आपके प्रति कड़वी अथवा ओछी बातें कहना चाहें, उस समय आप मधुर वचन बोल कर उनके हृदय, वाणी तथा मन को शान्त करदें ।"

अज्ञातिनोऽपि न सुखा नावज्ञेयास्ततः परम् ।
अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवन्त्युत ॥

(शान्तिपर्व ८०।३४)

भीष्मजी कहते हैं—"जिसके कुटुम्बी या सगे सम्बन्धी नहीं हैं, वह भी सुखी नहीं होता; इसलिये कुटुम्बो जनों की अवहेलना नहीं करनी चाहिये । भाई-बन्धु या कुटुम्बीजनों से रहित पुरुष को दूसरे लोग दबाते रहते हैं ।"

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥

(शान्ति पर्व २४३।१३)

व्यासजी कहते हैं—'कुटुम्ब में भरण-पोषण के योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन कराने के बाद बचे हुए अन्न को जो भोजन करता है उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करने वाला) कहते हैं । पोष्यवर्ग से बचे हुए अन्न को विघस तथा पंचमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेव से बचे हुए अन्न को अमृत कहते हैं ।

न भुञ्जीतान्तराकाले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम् ।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत कश्चिदपूजितः ॥

(शान्ति पर्व २४३।७)

"सबेरे और शाम दो ही समय भोजन करे, बीच में न खाय। ऋतुकाल के सिवा अन्य समय में स्त्री को अपनी शय्या पर न बुलावे। उसके घर पर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय।"

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ।।
परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम् ।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ।।

(अनुशासन पर्व १४१।२५-२६)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—"देवि ! किसी भी जीव की हिंसा (मन, वाणी अथवा कर्म से) न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियों पर दया करना, मन और इन्द्रियों पर काबू रखना तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान देना गृहस्थ आश्रम का उत्तम धर्म है। परायी स्त्री के संसर्ग से दूर रहना, धरोहर और स्त्री की रक्षा करना, बिना दिये किसी की वस्तु न लेना तथा मांस और मदिरा को त्याग देना।"

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति ।।

(वनपर्व ३१३।५८)

युधिष्ठिरजी कहते हैं—"जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँच का पोषण नहीं करता, वह श्वास लेने पर भी जीवित नहीं है।

शुश्रूषन्ते ये पितरं मातरं च गृहाश्रमे ।।
भर्तारं चैव या नारी अग्निहोत्रं च ये द्विजाः ।
तेषु तेषु च प्रीणन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः ।।
पितरः पितृलोकस्थाः स्वधर्मेण स रज्यते ।

(दाक्षि० अनुशासन पर्व अध्याय १४१)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—'जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर माता-पिता की सेवा करते हैं, जो नारी पति की सेवा करती है तथा जो द्विज नित्य अग्निहोत्र करते हैं, उन सब पर इन्द्र आदि देवता, पितृलोक निवासी पितर प्रसन्न होते हैं एवं वह पुरुष अपने धर्म से आनन्दित होता है।'

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता।
यस्मिन्नेवं कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते॥

(अनुशा० १२२।१७)

व्यासजी कहते हैं—"जिस कुल में पति अपनी पत्नी से और पत्नी अपने पति से सन्तुष्ट रहती हो, वहाँ सदा कल्याण होता है।"

३. श्राद्ध-कर्म—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यस्तेषां तु श्राद्धमावपेत्॥
यः सहस्रं सहस्राणां भोजयेदनृतान् नरः।
एकस्तान्मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति भारत॥

(अनुशा० ९०।५३–५४)

भीष्मजी कहते हैं—"भारत ! वेदज्ञ पुरुष अपना प्रिय हो या अप्रिय—इसका विचार न करके उसे श्राद्ध में भोजन कराना चाहिये। जो दस लाख अपात्र ब्राह्मणों को भोजन कराता है, उसके यहाँ उन सबके बदले एक ही सदा संतुष्ट रहने वाला देवज्ञ ब्राह्मण भोजन करने का अधिकारी है अर्थात् लाखों मूर्खों की अपेक्षा एक सत्पात्र ब्राह्मण को भोजन कराना उत्तम है।"

श्राद्धं दत्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियंव्रजेत्।
पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते॥

(अनुशासन पर्व १२५।२४)

पितर कहते हैं—'जो पुरुष श्राद्ध का दान और भोजन करके स्त्री के साथ समागम करता है, उसके पितर उसी वीर्य में शयन करते हैं।"

दीर्घायुश्च भवत् स्वस्थः पितृमेधेन वा पुनः।
सपुत्रो बहुभृत्यश्च प्रभूत धनधान्यवान् ॥

(दाक्षि० अनुशासन पर्व अध्याय १४५)

श्री महेश्वरजी कहते हैं—"श्राद्ध करने से मनुष्य दीर्घायु एवं स्वस्थ होता है; वह बहुत से पुत्र, सेवक तथा धनधान्य से सम्पन्न होता है।"

३—वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलित मात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत् ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः ॥

(शां० २४४।४-५)

व्यासजी कहते है—"बेटा गृहस्थ पुरुष, जब अपने शिर के बाल सफेद दिखायी दें, शरीर में झुर्रियां पड़ जायँ और पुत्र को भी पुत्र की प्राप्ति हो जाय तब अपनी आयु का तीसरा भाग व्यतीत करने के लिये वन में जाय और वानप्रस्थ-आश्रम में रहे। वह वानप्रस्थ आश्रम में भी उन्हीं अग्नियों का सेवन करे, जिनकी गृहस्थाश्रम में उपासना करता था। साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे।

वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुलं तपः।
पुण्यायतनचारी च भूतानाम विहिंसकः ॥

(शान्ति पर्व २४२।७)

"वनमें फल-मूल खाकर रहे, भारी तपस्या में तत्पर हो जाय, पुण्यतीर्थों में भ्रमण करे और किसी भी प्राणी की अपने द्वारा हिंसा (मन, वाणी और कर्म से भी) न होने दे।"

भूमिशय्या जटाश्मश्रुचर्मवल्कल धारणम् ।
देवतातिथिसत्कारो महाकृच्छ्राभिपूजनम् ।
अग्निहोत्रं त्रिषवणं तस्य नित्यं विधीयते ।।
ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः ।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते ।।

(अनुशासन पर्व दाक्षिणात्यप्रति अध्याय १४१)

श्रीमहेश्वर कहते हैं—"पृथ्वीपर सोना, जटा और दाढी-मूँछ रखना, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करना, देवताओं और अतिथियों का सत्कार करना, महान् कष्ट सहकर भी देवताओं की पूजा आदि का निर्वाह करना—यह वानप्रस्थ का नियम है। उसके लिये प्रतिदिन अग्नि-होत्र और त्रिकाल संध्या का विधान है। ब्रह्मचर्य, क्षमा और शौच आदि उसका सनातन धर्म है। ऐसा करने वाला वानप्रस्थ प्राणत्याग के पश्चात् देव-लोक में प्रतिष्ठित होता है।"

४-सन्यासाश्रम*

जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीड़ितः ।।
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम् ।।

(शान्ति पर्व २४४।२३)

---

* **सोचिअ जती प्रपं चरत बिगत बिवेक बिराग ।।**
बंखानख सोचं जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ।।
—रामचरितमानस

व्यासजी कहते हैं—'इस प्रकार वानप्रस्थ की अवधि पूरी कर लेने के बाद जब आयु का चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्था से शरीर दुर्बल हो जाय और रोग सताने लगें तो उस आश्रम का परित्याग करदे और सन्यास की दीक्षा लेते समय एक दिन में पूरा होने वाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणा में दे डाले।

आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य त्यक्त्वा सर्व परिग्रहान्॥

(शान्ति पर्व २४४।२४)

'फिर आत्मा का ही यजन, आत्मा में ही रत होकर आत्मा में ही क्रीड़ा करे। सब प्रकार से आत्मा का ही आश्रय ले। अग्निहोत्र की अग्नियों को आत्मा में ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रह को त्याग दे।

त्रींश्चैवाग्नीन् यजेत् सम्यगात्मन्येवात्ममोक्षणात्।
प्राणेभ्यो यजुषः पञ्च षट् प्राश्नीयादकुत्सयन्॥

(शान्ति पर्व २४४।२६)

'आत्मयज्ञ का स्वरूप इस प्रकार है, अपने भीतर ही तीनों अग्नियों की विधि-पूर्वक स्थापना करके देहपात होने तक प्राणाग्नि-होत्र की विधि से (ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा—ये प्राणाग्नि-होत्र के पाँच मन्त्र हैं, भोजन आरम्भ करते समय पहिले आचमन करके इनमें से एक-एक मन्त्र को पढ कर एक-एक ग्रास अन्न मुख में डाले, इस प्रकार पाँच ग्रास पूरे होने पर पुनः आचमन करे) भली-भांति यजन करता रहे। यजुर्वेद के 'प्राणाय स्वाहा' आदि मंत्रों का उच्चारण करता हुआ पहिले अन्न के पांच ग्रास ग्रहण करे (फिर आचमन

करने के पश्चात्) शेष अन्न की निन्दा न करता हुआ मौन भाव से भोजन करे।

अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता ॥
(शां० २४५।६)

'वह दूसरे दिन के लिये अन्न का संग्रह न करे। चित्त-वृत्तियों को एकाग्र करके मौनभाव से रहे। हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रात में केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे।

यद् ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत्।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः ॥
(शां० २४५।१०)

'जिससे ब्राह्मणों का हित हो, वैसा ही वचन सदा बोले। अपनी निन्दा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बन को भव-रोग से छूटने की दवा समझ कर करता रहे।

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
(शां० २४५।१३)

'जो जन-समुदायको सर्प-सा समझ कर उसके निकट जाने से डरता है, स्वादिष्ट भोजन-जनित तृप्ति को नरक-सा मानकर उससे दूर रहता है और स्त्रियों को मुर्दों के समान समझ कर उनकी ओर से विरक्त रहता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥
(शां० २४५।१५)

'संन्यासी न तो जीवन का अभिनन्दन करे और न मृत्यु का ही। जैसे सेवक स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार उसे भी काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये।'

नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नवदेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(शां० २७८।१५)

भीष्मजी हारीत मुनि की उक्ति बताते हैं—'सर्वदा तृप्त और पूर्ण-सन्तुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियों को प्रसन्न रक्खे। भय को पास न आने दे। प्रणव आदि का जप करता रहे तथा वैराग्य का आश्रय ले मौन रहे।

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्।

(शां० २७८।१७)

'संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ—इनके वेगों को सहता हुआ इन्हें वश में रक्खे। दूसरों द्वारा ही हुई निन्दा उसके हृदय में कोई विकार उत्पन्न न करे।'

न कुट्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने।
नत्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये॥
अध्यात्मगतिचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च॥

(अनुशासन० १४१।८२-८३)

श्री महेश्वर कहते हैं—"मोक्षाभिलाषी पुरुष को न तो कुटि में आसक्ति रखनी चाहिये, न जल में, न वस्त्र में, न आसन में, न अग्नि में और न किसी निवासस्थान में ही आसक्त होना

चाहिये। ममुक्षु को अध्यात्म-ज्ञान का ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। उसे उसी में सदा स्थित रहना चाहिये। निरन्तर योगाभ्यास में प्रवृत्त होकर तत्व का विचार करते रहना चाहिये।"

---

७१. दैवीसम्पद् और आसुरी सम्पद्

१. दैवी सम्पदावालों के लक्षण—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६।१–३)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिये ध्यान-योग में निरन्नर दृढ़ स्थिति और [सात्त्विक] दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता। मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों के कर्त्तापन के अभिमान

का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव। तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रु-भाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी-सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुषों के लक्षण हैं।

२. आसुरी सम्पदा वालों के लक्षण—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

(गीता १६।४)

"हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी–ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

(गीता १६।७)

आसुर स्वभाव के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति–इन दोनों को नहीं जानते। इसलिये उनमें न तो भीतर-बाहर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य भाषण ही है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद् ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

आशापाशशतैबर्द्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इयमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

(गीता १६।१०-१४)

"वे दम्भ (पाखण्ड), मान, (अभिमान) और मद (धन, विद्या, पद आदि के नशे में चूर) से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं। तथा वे मृत्यु-पर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले विषय भोगों के भोगने में तत्पर रहने वाले और 'इतना ही सुख है'—इस प्रकार मानने वाले होते हैं। वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर विषय-भोगों के लिये अन्याय-पूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते रहते हैं। वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर इतना और हो जायगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ। मैं सब सिद्धियों से युक्त हूं और बलवान तथा सुखी हूँ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

(गीता १६।१८)

"वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण और दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले होते हैं।"

३. दैवी और आसुरी सम्पदा वालों को मिलनेवाले फल

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता ।

(गीता १६।५)

"दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये मानी गई है।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

(गीता १६।१९)

"उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी (आसुरी सम्पदा वाले) नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी-योनियों (सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते, कौए आदि पशु-पक्षी व कीट पतंगों की) में ही डालता हूँ।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

(गीता १६।१६)

"अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोहरूप जाल में फँसे हुए और विषय भोगों में आसक्त आसुरी सम्पदा वाले महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं।"

७२. कर्मयोग*

१. मानव का अधिकार—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

(गीता २।४७)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न न हो (अर्थात् आसक्ति और फलाशा छोड़कर कर्म कर)।"

२. कर्म-मात्र की सिद्धि में पाँच कारण—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

(गीता १८।१४)

"इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान और कर्त्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण (साधन) एवं नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवा हेतु दैव है। (इसलिये फल में मनुष्य का कोई अधिकार नहीं। अतः फल की कामना करना एकमात्र दुःख का ही कारण होगा, यदि पूरा प्रयत्न करने पर भी फल न मिले, तो भी मनुष्य को दुःखी नहीं

---

* कर्मवीरों की कार्य-पद्धति को बताते हुए मानसकार कहते हैं कि—'कर्मयोगी, जो कार्य करना होता है, उसे करके ही दिखा देते हैं, आत्म-प्रशंसा नहीं करते; यथा :—

दो०—सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु ।
विद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु ॥

होना चाहिये । इस सम्बन्ध में विशेष रूप से **'प्रारब्ध और पुरुषार्थ'** नामक शीर्षक के अन्तर्गत देखियेगा)।"

३. कर्मों का स्वरूप से त्याग असम्भव और अनुचित है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

(गीता ३।५)

"निस्सन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति-जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये वाध्य किया जाता है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।

(गीता ३।८)

"तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।

(गीता १८।५९)

"अहंकार का आश्रय लेकर जो तू यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा', तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरी प्रकृति (स्वभाव) तुझे जवर्दस्ती इस युद्धरूपी कर्म में लगा देगी ।"

स्वभावजेन कौन्तेय निवद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

(गीता १८।६०)

"हे कुन्ती-पुत्र ! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलं लभेत्॥

(गीता १८।७-८)

"(निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्म का स्वरूप से त्याग उचित नहीं है। इसलिये मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझ कर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्त्तव्य कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(गीता ३।४)

"मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता को यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्याग-मात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४५-४६)

"अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति-रूप परम-सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम-सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू सुन। जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८।४७-४८)

"अच्छी प्रकार आचरण किये हुये दूसरे के धर्म से गुण-रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुये स्वधर्म-रूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता। अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धुएँ से अग्नि की भाँति कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं।"

४. आसक्ति एवं फलाशा ही बन्धन-कारक है— *

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्नममेति च शाश्वतम् ॥

(आश्व० १३।२)

* इस सम्बन्ध में विशेष 'ममता, आसक्ति और अनासक्ति' नामक शीर्षक के अन्तर्गत देखें।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—" 'मम' (मेरा)–ये दो अक्षर ही मृत्यु (बन्धन) रूप हैं, और 'न मम' (मेरा नहीं है)—यह तीन अक्षरों का पद सनातन ब्रह्म की प्राप्ति का कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है।

५. आसक्ति एवं फलाशा छोड़कर कर्म करने से लाभ–

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

(गीता ४।२३)

"जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थिर रहता है—ऐसे केवल यज्ञ (अर्थात् स्वार्थ का सम्बन्ध न रखकर केवल यज्ञ—ईश्वर अथवा कर्तव्य-भावना) के लिये कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं अर्थात् बन्धनरूप नहीं होते।

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

(गीता० ४।२२)

"जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म से नहीं बंधता।"

यः करोत्यनभिसंधिपूर्वकं तच्च निर्णुदति यत्पुराकृतम्।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥

(शान्ति पर्व १९४।६१)

भीष्मजी कहते हैं—"जो निष्काम भाव से कर्म करता है, उसका वह कर्म पहिले के किये हुए समस्त संस्कारों का नाश कर देता है। पूर्वजन्म और इस जन्म के किये हुए वे दोनों प्रकार के कर्म उस पुरुष के लिये न तो अप्रिय फल उत्पन्न करते हैं और न प्रिय फल के ही जनक होते हैं, (क्योंकि कर्तापन के अभिमान और फल की आसक्ति से शून्य होने के कारण उनका उन कर्मों से सम्बन्ध नहीं रहता)।"

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

(गीता २।७०)

"जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शांति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

६. सकाम कर्म ही जन्म-मृत्यु के कारण हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९।२१)

"वे (सकाम भाव से श्रेष्ठ कर्म करने वाले) उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर पुण्य-क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्यक्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं।"

७. कर्म-योग के भेद—

(क) केवल कर्मयोग—

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २।७१)

"जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता-रहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित हुआ विचरता है (अर्थात् संसार में व्यवहार करता है), वह शान्ति को प्राप्त होता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६।४)

"जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ (कर्मयोग में आरूढ़) कहा जाता है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
(गीता १८।११)

"क्योंकि शरीरधारी किसी मनुष्य के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है।

सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

(गीता २।३८)

"जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझ कर, उसके बाद युद्ध के लिये तैयार होजा; इस प्रकार युद्ध को करने से (अर्थात् कर्म करने से) तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।"

(ख) भक्ति-मिश्रित कर्म-योग—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

"जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।"

(ग) भक्ति-प्रधान कर्म-योग—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९।२७-२८)

"हे अर्जुन ! जो तू कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान करता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान् के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यास-योग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

(गीता ३।३०)

"मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा संपूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पण करके आशा-रहित, ममता-रहित और सन्ताप-रहित होकर युद्ध कर (अर्थात् कर्म कर)।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८।६६)

"सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों को मुझ में त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

(गीता ११।५५)

"हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरे ही लिए सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति-रहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में वैरभाव से रहित है—वह अनन्य-भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

(गीता १२।१०)

"यदि तू अभ्यास (योग) में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति-रूप सिद्धि को प्राप्त होगा।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।
(गीता ८।७)

"इसलिये, हे अर्जुन ! तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर (अर्थात् कर्तव्य-पालन कर)। इस प्रकार मुझ में अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।
(गी० १८।५६)

"मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम-पद को प्राप्त हो जाता है ।"

८. कर्मयोग का महत्व—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।
(गीता १२।१२)

भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—"(मर्म को न जानकर किये गये) अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि (इस) त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।
(गीता २।४०)

"इस कर्मयोग में आरम्भ का (अर्थात् बीज का) नाश नहीं है और उल्टा फल रूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोडा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से रक्षा कर लेता है ।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।।
(गी० ५।६)

"परन्तु, हे अर्जुन ! कर्मयोग के बिना संन्यास (अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग प्राप्त होना) कठिन है और योग-युक्त मुनि—भगवत् स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी—परब्रह्मपरमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।
(गी० ५।२)

"कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याण के करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में भी संन्यास से कर्मयोग (साधन में सुगम होने से) श्रेष्ठ है ।"

९. परमज्ञानी एवं भक्तों को भी लोकसंग्रह के लिये कर्मयोग का आचरण जीवन पर्यन्त करना ही उपयुक्त है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।
(गीता ३।१६)

"हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टि चक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तु मर्हसि ।।

(गीता ३।२०)

"जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म के द्वारा ही परम-सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोक-संग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने को ही योग्य है अर्थात् मुझे कर्म करना ही उचित है। (क्योंकि)—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

(गी० ३।२१)

"श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा आचरण ही करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।

(गीता ३।२२)

"हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(गी० ३।२३)

"हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गी० ३।२४)

"इसलिये मैं कर्म न करूँ, तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाँय और मैं सङ्करता का करने वाला होऊँ, तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

(गी० ३।२६)

"परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह शास्त्र-विहित कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्र-विहित समस्त कर्म भली-भांति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

(गा० ३।६–७)

"जो मूढ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मनसे उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। किन्तु, हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।"

१०. कर्मयोग के आचरण में मानवमात्र का अधिकार है–

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

"जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम-सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।"

"........ग्रन्थ को देखकर पूरी आशा की जा सकती है कि यह जन-जन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और ज्ञान पिपासु इससे लाभ उठाकर इसको समुचित आदर देंगे।"

श्रीराम शर्मा
(आचार्य गायत्री तपोभूमि, मथुरा

•

"........अर्थ-काम-प्रधान आज का भारतवासी ऐसी पुस्तकों को पढ़कर निश्चय ही पाश्चिमात्यों की चकाचौंध से हटकर सुपथ पर लग सकेगा।"

पं० गिरिराज शर्मा
(सम्पादक, भारती)